

उत्सर्गञ्च भक्त्या तस्मिन्पतित्वं स्यात् ॥३८॥

और, यजमान देवता के उद्देश्य से उत्सर्ग करता है, अतः मेघपतित्व देवता में मुख्य है और स्वामी के लिए उसका गौणरूप में प्रयोग होता है ।

उत्कृष्येतकसंयुक्तौ द्विदेवते संभवात् ॥३९॥

एकसंयुक्त का ही उत्कर्ष किया जाता है, क्योंकि द्विदेवता में वह असम्भव होता है ।

एकस्तु समवायान्तस्य तल्लक्षणत्वात् ॥४०॥

जो एकवचनान्त (मेघपति शब्द) है, वह देवतागण का बोधक है, क्योंकि उसका वह लक्षण होता है ।

संसर्गित्वाच्च तस्मात्तेन विकल्पः स्यात् ॥४१॥

और, दोनों मन्त्रों का प्रकृतियाग में सम्बन्ध होने से तथा एकार्थवाचक भी होने से दोनों मन्त्रों का विकल्प है ।

एकत्वेऽपि न गुणाऽप्यायात् ॥४२॥

एकत्व होने पर भी अविवक्षित होने से वह प्रकरण से उत्कृष्यमाण नहीं होता ।

नियमो बहुदेवते विकारः स्यात् ॥४३॥

पूर्व०—बहुदेवताक विकृतियाग में द्विवचनान्त का जो अतिदेश है, वह ऊहित होता है ।

विकल्पो वा प्रकृतिवत् ॥४४॥

सि०—एकवचन भी प्रकृति की भाँति द्विवचनान्त से विकल्पित होने के योग्य होता है ।

अर्थान्तरे विकारः स्याद्देवतापृथक्त्वादेकाभिसमवायात्स्यात् ॥४५॥

भिन्न-भिन्न देवताओं से अर्थात् अन्य पशु का अन्य देवता होने से भिन्न देवताक-याग समुदाय में विकार—ऊह होता है, एक तद्धित प्रत्यय वाचक देवता न होने से ।

॥ इति पूर्वभीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे तत्प्रकृतित्वाद्गुणस्य प्रविभक्तत्वादविकारे हि तासामकात्स्न्ये-
नाभिसम्बन्धो विकारान्न समासः स्यादसंयोगाच्च सर्वाभिः ॥१॥

पूर्व०—द्विपशुयाग में षड्विंशति (छब्बीस) शब्द का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि पशुगण की प्रकृति अग्नीषोमीय याग है । प्रकृति में एक पशु होता है और एक पशु के शरीर में छब्बीस वंक्रियाँ (वक्र अस्थियाँ) होती हैं । विकृति याग में जहाँ दो पशुओं का विधान है, षड्विंशति शब्द का अभ्यास होता है । यदि अभ्यास न किया जाए तो छब्बीस संख्यारूप गुण का सम्बन्ध दो पशुओं में सम्पूर्ण नहीं हो सकता । दो पशुओं में बावन शब्द का समास भी नहीं हो सकता, क्योंकि विकार करने से अतिविलक्षण शब्द प्राप्त होता है और किसी भी पशु में बावन वंक्रियाँ—अस्थियाँ नहीं होतीं ।

अभ्यासेऽपि तथेति चेत् ॥२॥

अभ्यास करने पर भी वही अप्राकृतत्वरूप दोष आता है, यदि ऐसा कहो तो—
न गुणादर्थकृतत्वाच्च ॥३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अभ्यास करने से वंक्रियों का सम्बन्ध दोनों पशुओं के साथ हो सकता है, परन्तु समास करने से ऐसा नहीं हो सकता ।

समासेऽपि तथेति चेत् ॥४॥

समास करने में भी वही दोष आया, यदि ऐसा कहो तो—
नासम्भवात् ॥५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, असम्भव होने से ।

स्वाभिश्च वचनं प्रकृतौ तथेह स्यात् ॥६॥

प्रकृति—अग्नीषोमीय याग में स्वसम्बन्धी वंकी वचन है, उसी प्रकार अभ्यास में भी हो सकता है ।

वंकीणान्तु प्रधानत्वात्समासेनाभिधानं स्यात् प्राधान्यमधिगोस्तदर्थत्वात् ॥७॥

सि०—वंक्रियों की प्रधानता है, पशुओं की नहीं । 'अधिगुः प्रैष' का भी यही भाव है । वंकी की प्रधानता होने से समास का कथन ही अभीष्ट है ।

तासां च कृत्स्नवचनात् ॥८॥

उन वंक्रियों का सम्पूर्णता से गिनने का वचन पाये जाने से भी उनकी प्रधानता सिद्ध होती है, पशुओं के नहीं ।

अपि त्वसन्निपातित्वात्पत्नीवदाम्नातेनाभिधानं स्यात् ॥९॥

पूर्व०—असन्निकृष्ट होने से वंक्रियों का षड्विंशति शब्द विकार—ऊह-रहित ही प्रयुक्त करना चाहिए (पत्नीं सन्ध्य) शब्द के समान ।

विकारस्तु प्रदेशत्वाद्यजमानवत् ॥१०॥

सि०—यजमान शब्द की भाँति प्रदेश-वृत्ति होने से विकार—ऊह होता है ।

अपूर्वत्वात्स्था पत्याम् ॥११॥

इसी प्रमाण से अपूर्व अर्थ होने से 'पत्नी' शब्द में ऊह करने की आवश्यकता नहीं है ।

आम्नातस्त्विकारारत्संख्यासु सर्वगामित्वात् ॥१२॥

पक्ष-उत्थापन—प्रकृति में प्रातिपदिक शब्द जैसे आम्नात है, उसी प्रकार ऊह किये बिना षड्विंशति शब्द का प्रयोग करना चाहिए । संख्यावाचक वचन में विकार करने से उसका सब वंक्रियों में कथन हो जाएगा ।

संख्या त्वेवं प्रधानं स्याद्व्यक्रयः पुनः प्रधानम् ॥१३॥

निराकरण—इस प्रकार षड्विंशति के ऊह करने में संख्या प्रधान है । प्रकृति से वंकी की प्रधानता है, संख्या की नहीं, अतः एकवचन ही उपपन्न होता है ।

अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात् ॥१४॥

पूर्व०—समान वचन नहीं है, अभ्यास ही होता है, क्योंकि इस प्रकार से अविकार ही जाएगा ।

पशुस्त्वेवं प्रधानं स्वादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात् तस्मात्समासशब्दः स्यात् ॥१५॥

सि०—ऐसा मान लेने पर यहाँ पर पशु ही प्रधानतया निर्दिष्ट हो जाता है, अभ्यास करने में पशु शब्द निमित्त है, अतः समास शब्द का पाठ करना योग्य है।

अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्स्य वचनाद्वैशेषिकम् ॥१६॥

पूर्व०—अश्वमेध यज्ञ में चौतीस वक्रियाँ समाभ्नात हुई हैं, वहाँ वह वचन अश्व का ही वैशेषिक है, अथवा सभी के लिए समान है।

तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिनियुज्यते सा चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वात् ॥१७॥

सि०—वहाँ ऋचा का अर्थवान् वचन होने से यह अश्व का ही वैशेषिक है, ऐसा न मानने पर ऋचा के वचन में अनर्थकत्व दोष ही जाएगा।

ऋग्वा स्यादाभ्नातत्वादविकल्पश्च न्यायः ॥१८॥

अथवा, जो ऋक् आभ्नात है, वह अप्रतिषिद्ध है, इस कारण से अश्व का वैशेषिक वचन होता है और वह अविकल्प है।

तस्यां तु वचनादेरवत्पदविकारः स्यात् ॥१९॥

उस ऋचा में पद-विकार होकर चतुस्त्रिंशत् (चौतीस) न कहकर षड्विंशति ही बोलना चाहिए, जैसे इरा के स्थान पर गिरा बोला जाता है।

सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात्पदेन स्यात् ॥२०॥

अथवा, 'चतुस्त्रिंशत्' इस पद का ऋचा के साथ संयोग न होने से समस्त ऋचाओं का प्रतिषेध हो जाएगा।

वनिष्टुसन्निधानादुरूकेण वपाभिधानम् ॥२१॥

ज्योतिष्टोम के अग्नीषोमीय पशुयाम में जो 'अग्निगो' वचन है, वहाँ वनिष्टु का सन्निधान होने से 'उरूक' शब्द उल्लू का वाचक न होकर वपा = चर्बी का वाचक है।

प्रशंसाऽस्याभिधानम् ॥२२॥

पूर्व०—'अग्निगुःप्रैष' मन्त्र में 'प्रशंसा' शब्द असि = तलवार के अर्थ का वाचक है।

बाहुप्रशंसा वा ॥२३॥

सि०—वहाँ 'प्रशंसा' शब्द बाहु की प्रशंसा बतानेवाला है। प्रशंसा-बाहु का अर्थ है—प्रशस्त बाहु। यदि तलवार अर्थ होता तो 'प्रशंसा' का ऊह करके बहुवचन करना पड़ता, परन्तु यहाँ ऊह विहित नहीं है।

श्येन-शला-कश्यप-कवष-स्त्रे-कपर्णेष्वाकृतिवचनं प्रसिद्धसन्निधानात् ॥२४॥

पूर्व०—श्येन, शला, कश्यप, कवष और स्त्रे-कपर्ण में सादृश्य (श्येन पक्षी के समान) वचन है, प्रसिद्ध श्येन आदि पद का सन्निधान होने से।

कात्स्न्यं वा स्यात्तथाभावात् ॥२५॥

सि०—एक अङ्ग के उद्धरण से अग्निगु नामक ऋत्विज को पशु के शरीर के अवयवों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकेगा, अतः सम्पूर्ण आकृति का उल्लेख किया गया है।

प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते परार्थत्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥२६॥

दशपौर्णमास इष्टियों में गार्हपत्य से अग्नि लाते समय यदि वह बुझ जाए तो

प्रायश्चित्तरूप में ज्योतिष्मती इष्टि करने का विधान नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्मती इष्टि अन्य के लिए होने से, अग्निहोत्र के लिए ही विहित है।

धारणे च परार्थत्वात् ॥२७॥

‘धार्य’ अग्नि के बुझ जाने पर भी यह प्रायश्चित्त नहीं होता, क्योंकि इसमें भी परार्थता विद्यमान है।

क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ॥२८॥

पर्युक्षण और परिसमूहन आदि तो संस्कारार्थ हैं, उनका और कोई प्रयोजन नहीं, अतः वे तो करने ही चाहिएँ।

न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ॥२९॥

परार्थ उत्पन्न अग्नि (दर्शपूर्णमास) में जो अग्निहोत्र का विधान है, वहाँ काल के अभाव में विगुणता होने से ‘वाचा त्वा होत्रा’ आदि मन्त्र नहीं पढ़ा जाएगा।

प्रदानदर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात्संसर्गाच्च मधूदकवत् ॥३०॥

पूर्व०—पयस के श्रपण में यदि देवता के उद्देश्य से प्रदान है तो पयोधर्म पय में भी करने चाहिएँ और श्रपणार्थ है तो नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि मधु और उदक के समान संसृष्ट होने से तथा याग के लिए होने से प्रदेय द्रव्य के जो धर्म कर्त्तव्य हैं, वे धर्म प्रदेय पय के भी कर्त्तव्य हैं।

संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥३१॥

और, प्रदेय संस्कारों का भी उसी प्रकार प्रतिषेध है।

तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ॥३२॥

तथा, उस पय के प्रदेयत्व का निषेध माना जाए तो पयोमिश्रित चरुद्रव्य का भी निषेध हो जाएगा।

अधर्मत्वमप्रदानात्प्रणीतार्थे विधानादतुल्यत्वादसंसर्गः ॥३३॥

सि०—पय में प्रदीयमान धर्मता नहीं है और इसका प्रणीतार्थ में विधान है तथा चरु और पय की तुल्यता भी नहीं है।

परो नित्यानुवादः स्यात् ॥३४॥

अन्य वचन (अयजुषा वत्सानपाकरोति) नित्यविधि का अनुवाद है।

विहितप्रतिषेधो वा ॥३५॥

अथवा, वह वचन शाखान्तर में विहित (यजुषा वत्सानपाकरोति) विधान का प्रतिषेधक है।

वर्जने गुणभावित्वात्तद्वृत्तप्रतिषेधात्कारणात्केवलाशनम् ॥३६॥

पूर्वोक्त (पयो मा भुंक्ष्व—तू दूध का सेवन मत कर) प्रतिषेध के कारण पय—संसृष्ट अन्न के भक्षण का वर्जन किया गया है, वह युक्त है। भोजन में दूध अग्रधान है। केवल दूध का सेवन व्रत में तथा श्रौषध के रूप में किया जाता है। केवल ओदन—भात का अग्रधान (खाना) हो सकता है।

व्रतधर्माच्च लेपवत् ॥३७॥

ब्रह्मचारी के लिए मांस आदि का निषेध है। मांस से संसृष्ट पदार्थों के सेवन से

उसके व्रत का लोप होता है, उसी प्रकार यहाँ भी पय से संसृष्ट पदार्थों का वर्जन हो जाएगा ।

रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ॥३८॥

उपर्युक्त कथन ठीक नहीं । व्रत पुरुष का धर्म होने से रस का प्रतिषेध है । पय= दूध का प्रतिषेध उस प्रकार का नहीं है, अतः प्रथम परिहार ही समुचित है ।

अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात्प्रवृत्तत्वात् ॥३९॥

चन्द्रोदय निमित्तक अभ्युदय-इष्टि में स्वधर्मा और इज्या के लिए शृत=पके हुए दूध तथा दधि इन दोनों द्रव्यों के धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि वहाँ दही की भी आहुति दी जाती है और पके हुए दूध की भी ।

शृतोपदेशाच्च ॥४०॥

शृत=पके हुए दूध के उपदेश से भी इज्यार्थ ही दही और पके हुए दूध के धर्म करने चाहिए ।

अपनयो वार्थान्तरे विधानाच्चरूपयोवत् ॥४१॥

चरु और पयस के समान श्रपणरूप कार्यान्तर में विधान होने से इज्या के धर्म का अभाव है ।

श्रपणानां त्वपूर्वत्वात्प्रदानार्थं विधानं स्यात् ॥४२॥

पूर्व०—पय आदि श्रपण का याग के लिए विधान है, अपूर्व कर्म होने से । सोम प्रदेय है । सोम की अपूर्वता होने से प्रदानार्थ पय का विधान होता है, अतः प्रदेश पयो-धर्म यहाँ पर करने ही चाहिए ।

गुणो वा श्रपणार्थत्वात् ॥४३॥

सि०—पय सोम का गुणभूत द्रव्य है, प्रदेय नहीं है, क्योंकि पयस का उपयोग श्रपण अर्थात् मिश्रण के लिए है ।

अनिर्देशाच्च ॥४४॥

और पयस का देवता के साथ निर्देश न होने से पयस गौण है, अतः उसमें प्रदेय के धर्म कर्तव्य नहीं हैं ।

श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ॥४५॥

तथा, द्वितीया विभक्ति की (पयसा सोमं श्रीणाति) श्रुति होने से भी सोम की प्रधानता स्पष्ट है ।

अर्थवादश्च तदर्थत्वात् ॥४६॥

और, अर्थवाद भी सोम की प्रधानता सूचित करने के लिए ही है ।

संस्कारं प्रतिभावाच्च तस्मादन्यप्रधानम् ॥४७॥

सोम के संस्कार के लिए होने से भी पयस अप्रधान=गौण है ।

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ॥४८॥

पूर्व०—जैसे चरु का उपादान उपधानार्थ होता है, उसी प्रकार पर्यग्निकृत वन्य-पशुओं के उत्सर्ग में होता है, अर्थात् आलम्भन (छू) कर उन्हें छोड़ दिया जाता है ।

शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिङान्तवत् ॥४६॥

सि०—पर्यग्नि संस्कार करने के पश्चात् प्राकृत अङ्गों का प्रतिषेध है, कर्त्तव्यार्थ न होने से, ठीक उसी प्रकार जैसे आतिथ्य में इङान्त कर्म ग्रन्थ कर्मों का निवर्तक है।

पूर्ववच्चाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्ते नोपपद्यते ॥५०॥

और, पूर्व शब्द याग की प्रवृत्तिवाला है तथा आज्य के द्वारा शेष का संस्थापन होता है। यदि यागपूर्व प्रवृत्ति नहीं है, उत्सर्ग-मात्र ही है तो वहाँ 'संस्थापयति' शब्द उपपन्न नहीं होता, अतः शेष का प्रतिषेध ही सिद्ध होता है।

क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्म सर्वहानं स्यात् ॥५१॥

अथवा, अवच्छेद सत्र में क्रिया हानी चाहिए। जब याग होता है तो सभी याग-कर्म करने चाहिए। यदि याग न हो तो अकर्म हैं, संस्कारों का सर्वहान हो जाएगा, अतः कर्मशेष प्रतिबन्ध पक्ष में भी सभी कुछ करना चाहिए।

आज्यसंस्था प्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात् ॥५२॥

पूर्व०—द्रव्य के उत्सर्ग होने से आज्य की समाप्ति प्रतिनिधिभूत है।

समाप्तिवचनात् ॥५३॥

तथा, समाप्ति-वचन पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है कि पूर्व की ही परि-समाप्ति है।

चोदना वा कर्मोत्सर्गदिन्यैः स्यादविशिष्टत्वात् ॥५४॥

सि०—पूर्वकर्म की परिसमाप्ति होने से कर्मान्तर का विधान होता है, दोनों भाष्यों में समानता होने से।

अनिज्यां च वनस्पते प्रसिद्धाज्जतेन दर्शयति ॥५५॥

अङ्गान्तर द्वारा वनस्पति-याग का अभाव बताया जाता है।

संस्था तद्देवतात्वात् स्यात् ॥५६॥

संस्था शब्द समाप्ति का वाचक है, पत्नीवत् देवताक होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

इति नवमोऽध्यायः ॥

दशमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

विधेः प्रकरणान्तरेऽतिदेशात्सर्वकर्म स्यात् ॥१॥

पूर्व०—प्रकृतियाग के प्रकरण में जिस-जिस कर्म का विधान है, उस सबका विकृतियाग में अतिदेश है, अतः प्रकृति में विहित सभी कर्म विकृति में भी करने चाहिए, चाहे वे लुप्त ही क्यों न हों ।

अपि वाऽभिधानसंस्कारद्रव्यर्थं क्रियते तादर्थ्यात् ॥२॥

सि०—अभिधान-संस्कार द्रव्य प्रयोजन होने पर ही किया जाता है; जहाँ प्रयोजन नहीं वहाँ नहीं होता, क्योंकि वह अन्य प्रयोजन के लिए ही ग्राम्नात है, स्वार्थ के लिए नहीं ।

तेषामप्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥३॥

कृष्णलो (सोने के टुकड़ों, वस्तुतः घुँघची—चिरमठी अथवा कोई अन्न-विशेष) का पाक इसलिए करना चाहिए क्योंकि श्रुति में स्पष्ट विधान कर दिया गया है ।

इष्टिरारम्भसंयोगाद्भूतान्निवर्तैतारम्भस्य प्रधानसंयोगात् ॥४॥

प्रकृतियाग की दीक्षणीय-इष्टि में जो आरम्भणीया-इष्टि की जाती है, उसका ज्योतिष्टोम की दीक्षणीय में बाध हो जाता है, क्योंकि आरम्भ का सम्बन्ध प्रधान याग के साथ है ।

प्रधानान्चान्यसंयुक्तात्सर्वारम्भान्निवर्तैतान्भूतत्वात् ॥५॥

राजसूययाग में पशुयाग, सोमयाग आदि प्रधान कर्म हैं, उनके अन्तर्गत अनुमति आदि इष्टियाँ भी हैं । इन अनुमति इष्टियों में भी आरम्भणीया-इष्टि का बाध है, क्योंकि जो प्रधान कर्म दूसरे प्रधान कर्मों से जुड़े हैं, उनमें आरम्भणीय कर्म करने की आवश्यकता नहीं है ।

तस्यां तु स्यात्प्रयाजवत् ॥६॥

पूर्व०—एक आरम्भणीया-इष्टि में दूसरी आरम्भणीया-इष्टि प्रयाज के समान करनी चाहिए ।

न वाऽङ्गभूतत्वात् ॥७॥

सि०—आरम्भणीया-इष्टि में आरम्भणीया-इष्टि नहीं होती, क्योंकि वह तो दश-पौर्णमास की अङ्गभूत होती है ।

एकवाक्यत्वाच्च ॥८॥

केवल एक ही वाक्य है जो आरम्भणीया का विधान करता है, अतः आरम्भणीया-इष्टि में आरम्भणीया नहीं होती ।

कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थाभावान्निवर्तेत तादर्थ्यं श्रुतिसंयोगात् ॥६॥

द्रव्य के संयोग के लिए जो कर्म होता है, वह अर्थ का अभाव होने से निवृत्त हो जाता है, क्योंकि तादर्थ्य का श्रुति से संयोग होता है, अतः यूप करणार्थ जो यूपानुति आदि संस्कार हैं, वे निरर्थक होने से निवृत्त हो जाते हैं।

स्थाणौ तु देशमात्रत्वादनिवृत्तिः प्रतीयेत ॥१०॥

पूर्व०—अग्नीषोमीय पशुयाग में स्थाणु में स्थाणु की आहुति श्रूयमाण होती है, यूप-संस्कार की भाँति स्थाणु में निवृत्ति की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह उपकारक कर्म है।

अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत ॥११॥

सि०—यूप का अङ्गभूत होने से आहुतिरूप कर्म की संस्कार में आवश्यकता प्रतीत होती है।

समाख्यानं च तद्वत् ॥१२॥

और, समाख्यान भी अवान्तर-प्रकरण यूप के अङ्गत्व का साधक है। समाख्यान स्थाणु-प्रधान आहुति का ही होता है।

मन्त्रवर्णश्च तद्वत् ॥१३॥

तथा, समाख्यान की भाँति मन्त्र-वर्णन भी अङ्गत्व में प्रमाण है।

प्रयाजे च तन्न्यायत्वात् ॥१४॥

प्रयाज में संस्कार-कर्म न्याय्य है। स्थाणु में आहुति और शेषभूत होने से उसका संस्कार उचित ही है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

तथा, इस पक्ष में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

तथाऽऽज्यभागान्निरपीति चेत् ॥१६॥

आक्षेप—उत्तम प्रयाज के समान आज्यभाग के अन्तर्गत होनेवाला अग्नियाग भी अग्निपत्य उपकारक है, यदि ऐसा कहो तो—

व्यपदेशाद्देवतान्तरम् ॥१७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। व्यपदेश (वाक्य में निर्देश होने) से देवतान्तर (प्रधान देवता से भिन्न) का यजन किया जाता है।

समत्वाच्च ॥१८॥

और, याग तथा देवता दोनों ही प्रयोजनवाले हैं, अतः देवता की यागार्थता न्याय्य है। देवता के बिना याग नहीं हो सकता तथा उपकारक कर्मों से समत्व है।

पशावपीति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—आज्यभागान्नि याग जैसे आरादुपकारक है, उसी प्रकार पशु-पुरोडाश भी आरादुपकारकत्व है, यदि ऐसा कहो तो—

न तद्भूतवचनात् ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, एक देवता प्रतिपादक वचन के पाये जाने से। जिस देवता का पशु है, उसी देवता का पुरोडाश होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२१॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी पशु-देवता-संस्कार के लिए पुरोडाश याग होता है ।

गुणो वा स्यात्कपालवद्गुणभूतविकाराच्च ॥२२॥

पूर्व०—देवता अङ्ग है। जैसे कपाल अर्पण और तुषोपवपन में होता है, उसी प्रकार अग्नीषोमीय देवता अभिन्न पशुयाग और पुरोडाश याग में गुणभूत हो जाएंगे। इससे भी आराधुपकारकत्व सिद्ध होता है ।

अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत स्वाहाकारवदङ्गनामर्थसंयोगात् ॥२३॥

सि०—उक्त कर्म आराधुपकारक नहीं किन्तु देवता के संस्कार के लिए देवता-प्रयोजनवाला है। स्वाहाकार उच्चारण जैसे देवता-संस्कार के लिए है, उसी प्रकार उक्त कर्म भी देवता-संस्कार के लिए है, क्योंकि अङ्ग का प्रयोग के साथ सम्बन्ध होता है ।

व्यूढवचनं च विप्रतिपत्तौ तदर्थत्वात् ॥२४॥

तथा, सौत्रामणी में पशु पुरोडाश और देवता की विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में व्यूढ = अङ्गलोप वचन देवता-संस्कार में ही अवकल्पित होता है ।

गुणेपीति चेत् ॥२५॥

गुणपक्ष (पुरोडाश याग) में भी समान दोष है, यदि ऐसा कहो तो—

नासंहानात्कपालवत् ॥२६॥

उक्त कथन ठीक नहीं। जैसे कपालों का हान नहीं होता, उसी प्रकार पशु-देवता में भी हान नहीं होता ।

ग्रहाणां च सम्प्रतिपत्तौ तद्वचनं तदर्थत्वात् ॥२७॥

और, सौत्रामणी में ग्रहों के देवता के सम्बन्ध में विवाद नहीं और जो ग्रहों में पुरोडाश सम्बन्धी वचन (ग्रहपुरोडाश इहो ते पशवः) है, वह ग्रह और पशु दोनों देवता-संस्कार के लिए हैं, अतः संस्कार पक्ष ही बलवान् है ।

ग्रहाभावे तद्वचनम् ॥२८॥

तथा, यदि ग्रह देवता के संस्कार के लिए है तो पुरोडाश भी देवता के संस्कार के लिए है। 'नेतस्य पशोर्ग्रहं गृह्णन्ति'—यह वाक्य ग्रहों के अभाव का सूचक है, इस अभाव का प्रयोजन यह है कि ग्रह और पुरोडाश का प्रयोजन एक है ।

देवतायाश्च हेतुत्वे प्रसिद्धं तेन दर्शयति ॥२९॥

अग्निदेवताक पशु होता है और पुरोडाश भी अग्निदेवताक है, अतः पुरोडाश भी देवता के संस्कार के लिए है ।

अविरुद्धोपपत्तिरर्थापत्तेःश्रुतवद् गुणभूतविकारः स्यात् ॥३०॥

प्रधानभूत भी अग्नीषोमों में धर्मों की उपपत्ति अविरुद्ध होती है। अर्थापत्ति से प्रधानभूत भी प्राकृतकार्य याग-निवृत्ति को करते हुए दूरभूत धर्मों के द्वारा श्रुत = पके हुए दूध की भाँति पूज्यमान होते हैं ।

स द्वचर्थः स्यादुभयोः श्रुतिभूतत्वाद्भिप्रतिपत्तौ तावर्थाद्विकारत्वमुक्तं
तस्यार्थवादत्वम् ॥३१॥

याग दो प्रयोजनवाला होता है, एक देवता-संस्कारार्थे और दूसरा छिद्र ढकने के लिए। दोनों ही प्रयोजन वेदविहित होने से अर्थवान् हैं। संशय उत्पन्न होने पर उभयार्थक याग समभक्ता चाहिए। विकृतियाग भी उसी के लिए है। 'पशोरेव' इत्यादि वाक्य अर्थवाद है।

विप्रतिपत्तौ तासामाख्याविकारः स्यात् ॥३२॥

जहाँ सन्देह होता हो, वहाँ देवताओं के नाम का विकार होता है।

अभ्यासो वा प्रयाजवदेकदेशोऽन्यदेवत्यः ॥३३॥

अथवा, पुरोडाश याग का अभ्यास है, उसका एक देश प्रयाज की भाँति भिन्न वैशतावाला होता है।

चरुर्विविकारः स्याद्विज्यासंयोगात् ॥३४॥

याग के साथ सम्बन्ध होने से चरु शब्द का अर्थ हवि का विकार ही है।

प्रसिद्धग्रहणत्वाच्च ॥३५॥

पूर्व०—चरु स्थाली में प्रसिद्ध है। हिमालय से कन्याकुमारी तक इसी का प्रयोग भी देखा जाता है, अतः स्थाली में ही हवि का विकार भी होता है।

श्रोदनो वाऽन्नसंयोगात् ॥३६॥

सि०—अन्न अर्थात् अदनीय—खाने योग्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने से चरु शब्द का अर्थ श्रोदन—भात ही है।

न द्वचर्थत्वात् ॥३७॥

पूर्व०—उक्त कथन ठीक नहीं। चरु शब्द का अर्थ श्रोदन मानने पर उसमें दो अर्थवाला होने का दोष आता है, क्योंकि चरु शब्द स्थाली में प्रसिद्ध है।

कपालविकारो वा विशयेऽर्थोपपत्तिभ्याम् ॥३८॥

अथवा, चरु कपाल का विकार ही है। संशय होने पर योग्यता और उत्पत्ति से अर्थ का निश्चय होता है।

गुणमुख्यविशेषाच्च ॥३९॥

और, गाण और मुख्य के विशेष हेतु से भी कपाल विकार होता है।

तत् श्रुती चान्यहविष्ट्वात् ॥४०॥

चरु की श्रुति में अन्य हवियों का भी सम्बन्ध होने से यही पक्ष सिद्ध होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४१॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि चरु कपाल का विकार है।

श्रोदनो वा प्रयुक्तत्वात् ॥४२॥

सि०—चरु शब्द का श्रोदन में भी प्रयोग होने से श्रोदन भी हवि का विकार

होता है।

अपूर्वव्यपदेशाच्च ॥४३॥

और, अपूर्व का व्यपदेश होने से भी श्रौदन के द्वारा ही हवि का विकार होता है ।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥४४॥

ऐसा मानने पर इसमें अन्य प्रमाण भी उपलब्ध हो जाते हैं ।

स कपाले प्रकृत्या स्यादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ॥४५॥

पूर्व०—श्रौदन का पाक आठ कपालों में करना चाहिए, क्योंकि दर्शपीर्णमास-रूप प्रकृति से कपालों की प्राप्ति होती है और अन्य कोई पात्र शास्त्र-विहित नहीं है, अतः इसका कोई नियम नहीं है । अर्थप्राप्त जिस किसी भी द्रव्य में पाक किया जा सकता है ।

एकस्मिन् वा विप्रतिषेधात् ॥४६॥

आठ कपालों में पाक का अभ्यास होने से एक पाल में ही चरु का पाक किया जाना चाहिए ।

न वाऽर्थान्तरसंयोगादपूपे पाकसंयुक्तं धारणार्थं चरौ भवति तत्रार्थात्पात्रलाभः

स्यादनियमोऽविशेषात् ॥४७॥

अथवा, अर्थान्तर का संयोग होने से श्रौदन का पाक कपालों में नहीं करना चाहिए, क्योंकि कपाल की आवश्यकता तो अपूप—पुरोडाश के लिए होती है । चरु—श्रौदन में प्रयुक्त कपाल उदक—जल के धारण के लिए होता है । उदकगत ऊष्मा से ही श्रौदन का पाक होता है, कपालगत ऊष्मा से नहीं; अर्थात्पत्ति से पात्र का लाभ होता है । अमुक पात्र होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

चरौ वा लिङ्गदर्शनात् ॥४८॥

सि०—चरु को स्थाली में ही पकाना चाहिए, कटाह अथवा कपालों पर नहीं, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं ।

तस्मिन्पेषणमनर्थलोपात्स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—चरु में पेषण (पीसना) करना चाहिए, क्योंकि पेषणरूप अर्थ का लोप उसमें नहीं है ।

अक्रिया वा अपूपहेतुत्वात् ॥५०॥

सि०—श्रौदन बनाने के लिए चावल का पेषण नहीं होता, पुरोडाश बनाने के लिए आटा पीसा जाता है ।

पिण्डार्थत्वाच्च संयवनम् ॥५१॥

चरु का संयवन (पानी मिलाकर गूंधना) नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह पिण्ड बनाने के लिए है ।

संवपनं च तादर्थ्यात् ॥५२॥

संवपन पुरोडाश में किया जाता है, क्योंकि वह उसी के लिए होता है ।

सन्तापनमघः श्रपणात् ॥५३॥

सन्तापन का भी चरु—ओदन में बाध है, क्योंकि वह अघःश्रपण—पुरोडाश के नीचे के भाग को पकाने के लिए होता है।

उपघानं च तादर्थ्यात् ॥५४॥

उपघान भी अनावश्यक है। कपालों को आग पर रखने को 'उपघान' कहते हैं, भात में यह भी व्यर्थ है।

पृथुश्लक्षणे चाऽनूपपत्वात् ॥५५॥

और, चरु में प्रथन (लोई बनाने) तथा श्लक्षण (चिकना करने) का भी निषेध है, क्योंकि ये क्रियाएँ पुरोडाश में होती हैं।

अभ्यूहश्चोपरिपाकार्यत्वात् ॥५६॥

ओदन में अभ्यूहन का भी बाध है। पुरोडाश को करछुल से अङ्गारे लेकर ढक देते हैं, जिससे ऊपर का भाग पक जाए। भात में यह भी व्यर्थ है।

तथा च ज्वलनम् ॥५७॥

अवज्वलन (दर्भ के फूलों को जलाकर चारों ओर से गर्म करना) भी पुरोडाश के साथ होता है, भात में यह भी व्यर्थ है।

व्युद्धृत्याऽऽसादनं च प्रकृतावश्रुतित्वात् ॥५८॥

पुरोडाश को कपालों से उठाकर अलग रखते हैं। चरु में उसका भी बाध है, श्रुति में विधान न होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

कृष्णलेष्वर्थलोपादपाकः स्यात् ॥१॥

पूर्व०—कृष्णल (सोने के टुकड़े) चरु में पाकरूप अर्थ के सम्भव न होने से अर्थ का लोप होता है, अतः कृष्णलों को पकाने की आवश्यकता नहीं है।

स्याद्वा प्रत्यक्षशिष्टत्वात्प्रदानवत् ॥२॥

सि०—कृष्णलों का पाक होना चाहिए, क्योंकि श्रुति में प्रत्यक्ष विधान है। कृष्णलों का अदन—अक्षण नहीं होता, उनका प्रदान होता है। इसका दृष्टफल तो नहीं है, अदृष्ट फल होगा।

उपस्तरणाभिघारणयोरमृतार्थत्वादकर्म स्यात् ॥३॥

कृष्णलों में उपस्तरण (उँडेलना) और अभिघारण (घी डालने) का बाध है, क्योंकि ये क्रियाएँ भात को स्वादिष्ट बनाने के लिए की जाती हैं।

क्रियेत वाऽर्थवादत्वात्तयोः संसर्गहेतुत्वात् ॥४॥

पूर्व०—कृष्णल में उपस्तरण और अभिघारण दोनों क्रियाएँ करनी चाहिए, क्योंकि प्रकरणान्तर में विधि का अतिदेश होने से समस्त कर्म होता है। स्वादुत्वकरण तो केवल अर्थवाद है। आज्य का संसर्ग—मात्र ही किया जाता है।

अकर्म वा चतुर्भिराप्तवचनात्सह पूर्णं पुनश्चतुरवत्तम् ॥५॥

सि०—'चतुर्भिः' इस आप्तवचन के होने से उपस्तरण और अभिधारण—दोनों की निवृत्ति हो जाती है। इनके साथ फिर पूर्ण चतुरवत्त ही हो जाता है और वहाँ पर आप्तवचन का व्याघात हो जाता है। कृष्णल चार हैं और अवदान भी चार ही हैं, अतः एक-एक कृष्णल एक-एक अवदान के स्थान में होता है।

क्रिया वा मुख्यावदानपरिमाणान्त सामान्यात्तद्गुणत्वम् ॥६॥

उपस्तरण और अभिधारण दोनों कर्म करने चाहिएँ, क्योंकि प्रकृति में मुख्य अवदान के परिमाण का कथन पाया जाता है। परिमाण स्वयं गुण—अङ्ग होने से मुख्य द्रव्य का बाध नहीं कर सकता, अतः उक्त दोनों क्रियाएँ की जानी चाहिएँ।

तेषां चैकावदानत्वात् ॥७॥

और, चारों कृष्णलों की एक ही अवदानता होती है, अतः उक्त दोनों क्रियाएँ करनी चाहिएँ।

आप्तिः संख्या समानत्वात् ॥८॥

संख्या की समानता होने से आप्तवचन चतुःसंख्या की ही संस्तुति है, अतः उपस्तरण और अभिधारण क्रियाओं की निवृत्ति नहीं होती।

सतोस्त्वाप्तवचनं व्यर्थम् ॥९॥

आक्षेप०—उपस्तरण और अभिधारण के विद्यमान होने से आप्तवचन व्यर्थ ही होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसका कोई संस्तव नहीं होता।

विकल्पस्त्वेकावदानत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—एक अवदान का कथन होने से उक्त दोनों क्रियाओं की निवृत्ति होती है; इस लिङ्ग में विकल्प होता है।

सर्वविकारे त्वभ्यासानर्थक्यं हविषो हीतरस्य स्यादपि वा स्विष्टकृत्:

स्यादितरस्यान्यायत्वात् ॥११॥

पूर्व०—चारों कृष्णलों में सर्वावदान का विकार होने पर 'चत्वारि-चत्वारि' यह अभ्यास निरर्थक हो जाएगा। हमारे पक्ष में इतर हवि द्वितीय अवदान की अपेक्षा करके अभ्यास अवकल्पित होता है। स्विष्टकृत् के लिए अभ्यास चरितार्थ है, यदि ऐसा कहा जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान प्रकरण का त्याग करके अन्य प्रकरण का स्वीकार करना अन्याय है, अतः दोनों क्रियाएँ करनी ही चाहिएँ।

अकर्म वा संसर्गार्थनिवृत्तित्वात् तस्मादाप्तिसमर्थत्वम् ॥१२॥

सि०—कृष्णलों में उपस्तरण और अभिधारण नहीं करने चाहिएँ। सूक्त के साथ कृष्णल का संयोग न होने से प्रकृत प्रयोजन की निवृत्ति होती है और आप्तवचन भी उपपन्न हो जाता है।

भक्षाणां तु प्रीत्यर्थत्वादकर्म स्यात् ॥१३॥

पूर्व०—भक्षों का प्रकृति में होना भक्षजन्य प्रीति के लिए होता है, अतः कृष्णल चरु में ये भक्ष नहीं करने चाहिएँ।

स्याद्वा निर्धानदर्शनात् ॥१४॥

सि०—‘निर्धान’ शब्द से कृष्णल के भक्षण का विधान है। खाते क्या हैं, चूस लेते हैं, क्योंकि श्रुति में विधान है।

वचनं त्वाज्यभक्षस्य प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥१५॥

आक्षेप—अथवा, प्रकृतियाग में होने से यह वचन आज्य = घृत-भक्षण के लिए है, क्योंकि यह क्रिया कृष्णल चरु में शक्य नहीं है।

वचनं वा हिरण्यस्य प्रदानवदाज्यस्य गुणभूतत्वात् ॥१६॥

समा०—उक्त वचन ‘हिरण्य’ के लिए है, घृत के लिए नहीं। अदनीय = भक्षणीय पदार्थ के प्रदान के समान कृष्णल चरु का ही भक्षण है, क्योंकि आज्य तो गौण है।

एकधोपहारे सहत्वं ब्रह्मभक्षाणां प्रकृतौ विहितत्वात् ॥१७॥

सि०—एक समय में प्राकृत इडा आदि हवि के चार भाग करने में महत्त्व होता है, ब्रह्मा नामक ऋत्विज के भक्ष भाग के प्रकृतियाग में विहित होने से।

सर्वत्वं च तेषामधिकारात्स्यात् ॥१८॥

पूर्व०—और, ब्रह्मा-सम्बन्धी भाग को सर्वत्व विहित है, अधिकार होने से।

पुरुषापनयो वा तेषामवाच्यत्वात् ॥१९॥

सि०—शेष हवि में ब्रह्मा का सम्बन्ध होने से दूसरों के सम्बन्ध की निवृत्ति है, क्योंकि अन्य ऋत्विजों का निर्देश नहीं है।

पुरुषापनयात्स्वकालत्वम् ॥२०॥

अन्य ऋत्विजों का अपनय हो जाने से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक भक्षण यथा-समय ब्रह्मा को ही करना चाहिए।

एकार्थत्वादविभागः स्यात् ॥२१॥

सम्पूर्ण चरु एक ब्रह्मा नामक ऋत्विज के लिए होने से विभाग की आवश्यकता नहीं है।

ऋत्विग्दानं धर्ममात्रार्थं स्याद्ददाति सामर्थ्यात् ॥२२॥

पूर्व०—ऋत्विजों को जो दान दिया जाता है, वह केवल धर्ममात्र है, क्योंकि उसकी कर्तव्यता सुनी जाती है और यह कर्तव्यता ‘ददाति’ शब्द की सामर्थ्य से सिद्ध है।

परिक्रयार्थं वा कर्मसंयोगाल्लोकवत् ॥२३॥

सि०—ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में जो दक्षिणा दी जाती है, वह लोकव्यवहार के समान ऋत्विजों की सेवाओं के परिक्रय (खरीदने) के लिए पारिश्रमिकरूप में दी जाती है।

दक्षिणायुक्तवचनाच्च ॥२४॥

‘दक्षिणायुक्ता वहन्यृत्विजः’—इस वचनरूपी प्रमाण से भी परिक्रय के लिए ही दान सिद्ध होता है।

परिक्रीतवचनाच्च ॥२५॥

‘दक्षिणापरिक्रीता ऋत्विजो याजयन्ति’—इस वचन से यह अर्थ द्योतित होता है

किं दीक्षित ऋत्विज दक्षिणा से परिक्रीत होते हुए यज्ञ कराते हैं, अतः परिक्रयार्थ ही दान होता है ।

सनिवन्ये च भृतिवचनात् ॥२६॥

याज्या से प्राप्त घन में भृति शब्द का प्रयोग होने से भी दान परिक्रयार्थ ही होता है ।

नष्कतृकेण संस्तवात् ॥२७॥

निष्कतृक (लकड़हारे) शब्द का प्रयोग होने से भी दान परिक्रयार्थ ही होता है । जैसे लकड़हारा पारिश्रमिक के लिए कार्य करता है, उसी प्रकार ऋत्विज भी दक्षिणा के लिए यज्ञ कराते हैं ।

शेषभक्षाश्च तद्वत् ॥२८॥

पूर्व०—हविशेष का भक्षण भी दक्षिणा दान के ही समान परिक्रयार्थ होता है ।

संस्कारो वा द्रव्यस्य परार्थत्वात् ॥२९॥

सि०—दक्षिणा भले ही परिक्रयार्थ हो परन्तु हवि का भक्षण परिक्रयार्थ नहीं है, वह तो द्रव्य के संस्कारार्थ होता है ।

शेषे च समत्वात् ॥३०॥

जो द्रव्यशेष है, वह देवता के लिए संकल्पित है । उसका उपयोग न करने में यजमान और ऋत्विज दोनों समान हैं । इससे भक्षण का परिक्रयार्थ न होना ही सिद्ध होता है ।

स्वामिनि च दर्शनात्तस्मान्न्यादितरेषां तथात्वम् ॥३१॥

स्वामी—यजमान में शेष-भक्षण विहित है, क्योंकि इडा में भक्षण का वचन है, उसकी समानता होने से इतरों का भी परिक्रय नहीं होता ।

वरणमृत्विजामानमनार्थत्वात्सत्रे न स्यात्स्वकर्मत्वात् ॥३२॥

सत्रों में न ऋत्विजों का वरण होता है, न उनकी सेवाओं का दक्षिणा द्वारा परिक्रय होता है, क्योंकि सत्र में तो सत्रह यजमान ही ऋत्विज होते हैं, कौन किसका वरण करे और किसको दान दे ।

परिक्रयश्च तादर्थ्यात् ॥३३॥

सत्र परार्थ न होकर आत्मार्थ होता है, अतः सत्र में गौ, वस्त्र, हिरण्य—सुवर्ण आदि कुछ नहीं दिया जाता ।

प्रतिषेधश्च कर्मवत् ॥३४॥

आक्षेप—प्राप्ति होने पर ही कर्म की भाँति प्रतिषेध होता है ।

स्याद्वा प्रसर्पिकस्य घर्ममात्रत्वात् ॥३५॥

अथवा, प्रासर्पिक दान का प्रतिषेध होता है, क्योंकि सत्रों में घर्ममात्र—अदृष्टार्थ ही दान होता है, वह निवृत्त हो जाता है, अतः प्रतिषेध उपपन्न होता है ।

न दक्षिणा शब्दात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३६॥

दक्षिणा शब्द के होने से उसका ही प्रतिषेध होता है, प्रासर्पिक का नहीं ।

ऋत्विग्दान दक्षिणा है, वह प्रासर्पिक नहीं है। सत्र दक्षिणाहीन होते हैं, अतः नित्य प्राप्त का ही यह अनुवाद है।

उदवसानीयाः सत्रधर्मा स्यात्तदङ्गत्वात्तत्र दानं धर्ममात्रं स्यात् ॥३७॥

पूर्व०—उदवसनीय सत्र धर्मवाला होता है। उक्त सत्र का अङ्ग होने से उसमें दिया गया दान केवल अदृष्टार्थक है।

न स्वैतत्प्रकृतित्वाद्भिभक्तचोदितत्वात् ॥३८॥

सि०—उदवसनीय इष्टि में दक्षिणा दी जाती है, क्योंकि वह सत्र का अङ्ग नहीं है। यह सत्र के पश्चात् की जाती है।

तेषां तु वचनाद्द्वियज्ञवत्सहप्रयोगः स्यात् ॥३९॥

पूर्व०—“सत्र से उठकर उदवसनीय —पृष्ठशमनीय सहस्र दक्षिणावाला ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए” —इससे यह अर्थ निकलता है कि पृष्ठशमनीय सत्र का अङ्ग नहीं है। राजपुरोहित-यज्ञवत् संहत करके पृष्ठशमनीय करनी चाहिए।

तत्रान्यानृत्विजो वृणीरन् ॥४०॥

उदवसनीय इष्टि में सत्र के ऋत्विजों से भिन्न ऋत्विजों का वरण करना चाहिए।

एकं कशस्त्वविप्रतिषेधात्प्रकृतेश्चैकसंयोगात् ॥४१॥

सि०—संहत करके पृष्ठशमनीय नहीं करनी चाहिए। यह इष्टि सत्र करनेवालों को अलग-अलग करनी चाहिए, क्योंकि इसमें प्रतिषेध नहीं है और प्रकृति में एक कर्त्त का संयोग है

कामेष्टो च दानशब्दात् ॥४२॥

पूर्व०—कामेष्टि में दान परिक्रयार्थ होता है, क्योंकि दान शब्द का प्रयोग किया गया है।

वचनं वा सत्रत्वात् ॥४३॥

सि०—‘कामेष्टि’ स्वयं सत्र नहीं है, ‘सारस्वत’ सत्र का अङ्गमात्र है। यह ऋत्विजों की सेवाओं का परिक्रय करने के लिए नहीं है, क्योंकि यहाँ भी ऋत्विज अलग नहीं होते। यह दान केवल धर्म के लिए है और अदृष्टफल की आकांक्षा से किया जाता है।

द्वेष्ये वा चोदनाद्दक्षिणापनयात् ॥४४॥

वंशवानर इष्टि में एक वर्ष का बछड़ा शत्रु को दान में दिया जाता है। यह भी परिक्रय नहीं है, अपितु धर्ममात्र है, अदृष्टफल के लिए।

अस्थियज्ञोऽविप्रतिषेधादितरेषां स्याद्विप्रतिषेधावस्थनाम् ॥४५॥

अस्थियज्ञ^१ में हड्डियों से यज्ञ कराए। परन्तु हड्डियाँ तो यज्ञ कर नहीं सकती, अतः इसका अर्थ यह है कि जो हड्डीवाले हैं, उनसे संवत्सर अस्थियज्ञ कराया जाए।

१. सत्र के यजमानों में से कोई मर जाए तो उसका दाह करके हड्डियों को काले मृग के चमड़े में बटोर लाते हैं और उस मृतक के किसी सम्बन्धी को दीक्षित करके यजमान बना लेते हैं। इस प्रकार सत्र का कार्य चलता रहता है। वर्ष के अन्त में अस्थियज्ञ कराते हैं।

यावदुक्तमुपयोगः स्यात् ॥४६॥

जितनों में वह वचन है, उतने ही में वह हो सकता है। वह सब यजमानों को लक्षित नहीं कर सकता, अतः जीवितों का ही यज्ञ होता है।

यदि तु वचनात्तेषां जपसंस्कारमर्थलुप्तं सेष्टि तदर्थत्वात् ॥४७॥

यदि वचन से अस्थियों का यज्ञ होता है तो इसमें मन्त्रों के जाप, संस्कार (जैसे दाढ़ी मुँडाना) तथा दीक्षणीय इष्टि का बाध हो जाएगा।

ऋत्वर्थं तु क्रियेत गुणभूतत्वात् ॥४८॥

अस्थियाग में यजमान के कद के बराबर घूप को नापना तथा शुक्रग्रहपात्र का स्पर्श—ये दोनों कर्म होंगे, क्योंकि ये कर्म यज्ञ के गुणभूत हैं।

काम्यानि तु न विद्यन्ते कामाज्ञानाद्यथेतरस्यानुच्यमानानि ॥४९॥

अस्थियज्ञ में काम्य कर्म नहीं होंगे, क्योंकि अस्थियों में कोई कामना नहीं होती, जैसे जब तक कहा न जाए तब तक यज्ञकर्ता की कामनाओं का भी ज्ञान नहीं होता।

ईहार्थाश्चाभावात्सूक्तवाकवत् ॥५०॥

आयुष् आदि की प्रार्थना भी सूक्तवाक् में श्रूयमाण न होने से कर्तव्य नहीं है।

स्युर्वास्यवादत्वात् ॥५१॥

पूर्व०—उक्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि ये विधियाँ नहीं हैं किन्तु अर्थवाद हैं, अतः ईहार्थ काम करने चाहिए।

नेच्छाभिधानात्तदभावादितरस्मिन् ॥५२॥

सि०—ये कर्म इच्छा-विधान हैं अर्थात् इच्छा उत्पन्न होने पर ही हो सकते हैं तथा जीवित में ही ये कार्य होते हैं। इतर अस्थियों में मन के न होने से नहीं होते, अतः ईहार्थ कर्म नहीं करने चाहिए।

स्युर्वा होतृकामाः ॥५३॥

पूर्व०—अस्थियों के होतृकाम करने चाहिए।

न तदाशीष्टत्वात् ॥५४॥

सि०—अस्थियों में होतृकाम नहीं करने चाहिए। यजमान ऋत्विक् का आशीर्वाद चाहते हैं। यहाँ यजमान नहीं है, केवल अचेतन अस्थियाँ हैं और उनमें कामना नहीं है।

सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ समापनं न विद्यते कर्मणो जीवसंयोगात् ॥५५॥

पूर्व०—यजमान के मरने पर 'सर्वस्वार' नामक ऋतु की समाप्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कर्म का जीव से संयोग होता है, वह जीवित होते हुए ही किया जा सकता है।

स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥५६॥

सि०—'सर्वस्वार' की परिसमाप्ति होती है, क्योंकि ऋतु और परिसमाप्ति—दोनों का ही प्रत्यक्ष विधान है।

गते कर्मास्थियज्ञवत् ॥५७॥

यजमान के घर जाने पर अस्थियाग की भाँति यागरूप कार्य हो जाएगा।

जीवत्यवचनमायुराशिषस्तदर्थत्वात् ॥५८॥

पूर्व०—जीवन की कामना करने का वचन होने से 'सर्वस्वार' में आयु के आशीर्वाद का वचन नहीं कहना चाहिए। आशीर्वाद जीवन की कामना करनेवाले के लिए होता है।

वचनं वा भागित्वात्प्राग्यथोक्तत्वात् ॥५९॥

सि०—आयु का आशीष-भागी होने से आयु का आशीर्वाचन करना ही चाहिए। आर्भवं पवमान स्तोत्र पूर्ण होने तक यजमान जीवित रहने की इच्छा करता है, अतः जैसे अन्य क्रियाएँ की जाती हैं उसी प्रकार आयु के आशामूचक मन्त्रों का पाठ करना चाहिए।

क्रिया स्याद्धर्ममात्राणाम् ॥६०॥

द्वादशाह सत्र में 'दान' धर्ममात्र की भावना से अष्टष्ट फल के लिए होने चाहिए।

गुणलोपे तु मुख्यस्य ॥६१॥

गौण (हवनी) का लोप होने पर भी प्रधान कर्म निर्वाप—हवि पकाने की क्रिया तो करनी ही चाहिए।

मुष्टिलोपात्तु संख्यालोपस्तद्गुणत्वात्स्यात् ॥६२॥

पूर्व०—मुष्टि का लोप होने पर ही संख्या का लोप मानना योग्य है, क्योंकि संख्या मुष्टि का गुण है।

न निर्वापशेषत्वात् ॥६३॥

सि०—संख्या मुष्टि का गुण नहीं अपितु निर्वाप—पाक का गुण है, अतः संख्या का बाध मानना उचित नहीं, मुष्टि का ही बाध होता है।

संख्या तु चोदनां प्रति सामान्यात्तद्विकारः संयोगाच्च परं मुष्टेः ॥६४॥

पूर्व०—विधानप्रमाणे सादृश्य चतुष्टय विकार और द्रव्य के मानने से मुष्टिविकार बाधित होता है।

न चोदनाभिसम्बन्धात्प्रकृतौ संस्कारयोगात् ॥६५॥

सि०—चार मुष्टि का सम्बन्ध प्रकृतियाग में निर्वाप संस्कार के साथ है और सत्रह शरावों का सम्बन्ध वाजपेय याग के साथ है। इस प्रकार भिन्न सम्बन्ध होने से दोनों का बाध नहीं हो सकता। चोदक वचन से चार मुट्ठी का बाध होकर सत्रह शरावे-भर का ही अनुष्ठान होना चाहिए।

श्रौत्पत्तिके तु द्रव्यतो विकारः स्यादकार्यत्वात् ॥६६॥

उत्पत्ति से ही जातिविशिष्ट गुण शब्द में द्रव्य से विकार होता है, क्योंकि वह प्रकार्य है। चोदक की अपेक्षा से प्रत्यक्ष जाति का त्याग नहीं किया जा सकता। धेनु का प्रथं गाय है, दूध देनेवाली बकरी नहीं।

नैमित्तिके तु कार्यत्वात्प्रकृतेः स्यात्तदापत्तेः ॥६७॥

केवल गुण को निमित्त करके प्रवृत्त होनेवाला शब्द कार्य होने से प्रकृति में 'अज'

का ग्राहक है, अतिदेशशास्त्र की उत्पत्ति होने से । (‘वायव्यं श्वेतमालभते’—में श्वेत का अर्थ है श्वेत बकरा ।)

विप्रतिषेधे तद्वचनात्प्रकृतगुणलोपः स्यात्तेन कर्मसंयोगात् ॥६८॥

प्राकृत और वैकृत गुणों का विरोध होने पर वैकृत गुण का वचन मान्य होने से प्राकृत गुण का बाध होता है, समीपवर्ती यूप के साथ कर्म का संयोग होने से ।

परेषां प्रतिषेधः स्यात् ॥६९॥

‘खलेवाली’ में यूप के तक्षण, जोषण और उच्छ्रयण (छीलना) आदि कर्मों की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि ‘खलेवाली’ तो पहले से ही बनी होती है ।

विप्रतिषेधाच्च ॥७०॥

और, विरोध होने से भी ‘खलेवाली’ में तक्षण आदि कर्म नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि तक्षण आदि करने पर ‘खलेवाली’ का रूप नष्ट होकर वह अन्य द्रव्य बन जाएगा ।

अर्थाभावे संस्कारत्वं स्यात् ॥७१॥

तक्षण आदि कार्यों का अभाव होने पर भी ‘खलेवाली’ में जिन संस्कारों (सुद्ध गाढ़ना, तेल चुपड़ना) का फल दृष्ट है, वे तो करने ही चाहिएँ । इन कर्मों से वह दृढ़ हो जाती है ।

अर्थेन च विपर्यासे तावर्थात्तत्त्वमेव स्यात् ॥७२॥

गुण के लोप होने पर भी मुख्य क्रिया करनी चाहिए । महापितृयज्ञ में खिलों को भूनने से पहले थोड़ा छड़ लेना चाहिए, इससे उनका धानत्व नष्ट नहीं होता ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

विकृतौ शब्दवत्त्वात्प्रधानस्य गुणानामधिकोत्पत्तिः सन्निधानात् ॥१॥

पूर्व०—प्राकृत गुण से विलक्षण गुणवाले, प्राकृत अङ्गवाले अग्नीषोमीय पशुवादि में एकादशत्वादि विशिष्ट प्रयाज आदि विधायक शब्द होने से अप्राकृत गुणों की स्वतन्त्रता से उत्पत्ति है, मुख्य भावना का सन्निधान होने से ।

प्रकृतिवत्त्वस्य चानुपरोधः ॥२॥

इस प्रकार ‘पशुमालभते’ इस वाक्य में ‘प्रकृतिवत्’ पद की कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती ।

चोदनाप्रभूत्वाच्च ॥३॥

और, प्रयाजादि विधि में ‘एकादशप्रयाजान् यजति’—इस वाक्य का प्रभुत्व है, अतः प्रकृतियाग की इतिकर्तव्यता इनपर लागू नहीं है ।

प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं तथाभूतमपूर्वं स्यात्तस्य विध्युपलक्षणात्सर्वो हि

पूर्ववान्विधिरविशेषात्प्रवृत्तिः ॥४॥

सि०—प्राकृत कर्म जिस अङ्ग से संयुक्त होता है, उसी अङ्ग से संयुक्त विकृति

सामान्य है। विकृति में प्राकृत अङ्गों की उपलब्धि होने से विकृतियाग भी प्रकृतिपूर्वक होता है और सामान्य रूप से प्रवर्तित है, अतः इतिकर्तव्यता को प्राप्त होने पर यह गुण-विधि है।

न चाङ्गविधिरनङ्गे स्यात् ॥५॥

और, अङ्गरहित कर्म में अङ्ग की विशेष विधि नहीं होती।

कर्मणश्चैकशब्दात् सन्निधाने विधेराख्या संयोगो गुणेन तद्विकारः स्याच्छब्दस्य

विधिगामित्वाद्गुणस्य चोपदेश्यत्वात् ॥६॥

प्रधानकर्म और गुणकर्म, प्रयोगवाचक एक शब्द से कहे गये हैं। प्रधान वचन से अङ्ग सन्निहित होता है। अङ्गविधि का नाम के साथ सम्बन्ध होता है। एकादशत्व संख्या-रूप गुण से विकार होता है। एकादशत्वादि शब्द प्रयाजादि विधिगामी है और गुण उपदेश करने योग्य है, इससे इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है।

अकार्यत्वाच्च नाम्नः ॥७॥

नाम का सम्बन्ध न होने से भी इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है और ये गुण-विधियाँ हैं।

तुल्या च प्रभुता गुणे ॥८॥

और विधिप्रत्ययशक्ति गुणकर्म और प्रधानकर्म में तुल्य है।

सर्वमेवं प्रधानमिति चेत् ॥९॥

इस प्रकार सभी कर्म प्रधान होते हैं, यदि ऐसा कहो तो—

तथाभूतेन संयोगाद्यथार्थविषयः स्युः ॥१०॥

उक्त कथन ठीक नहीं। दूसरे अध्याय में गुण और प्रधान के जैसे लक्षण बताये गये हैं, वैसा ही संयोग होने से यथार्थ विधियाँ हो जाएँगी।

विधित्वं चावशिष्टं वैकृतैः कर्मणा योगात्तस्मात्सर्वं प्रधानार्थम् ॥११॥

वैकृतकर्म के साथ विधित्व समान है, अर्थवाद के साथ सम्बन्ध होने से, अतः सभी प्रधानार्थ विकृति में गुणभूत होता है।

समत्वाच्च तदुत्पत्तेः संस्कारेरधिकारः स्यात् ॥१२॥

उत्पत्तिक्रम की समानता होने से प्रयाजादि का संस्कार के साथ सम्बन्ध होता है, इससे सब प्रधान नहीं हैं, कुछ प्रधानार्थ भी होता है।

हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिङ्गात् ॥१३॥

पूर्व०—‘हिरण्यगर्भ’ मन्त्र पूर्व आधार की गुणविधि है, मन्त्र में प्रयाजादि देवता की स्तुति होने से।

प्रकृत्यनुपरोधाच्च ॥१४॥

और, प्रकृति के अनुपरोध होने से भी यह पूर्व की गुणविधि ही है।

उत्तरस्य वा मन्त्रार्थत्वात् ॥१५॥

सि०—यह पूर्व की गुणविधि नहीं अपितु उत्तर की गुणविधि है। ‘हिरण्यगर्भ’ मन्त्र कार्यविशेष का विधायक है।

विध्यतिदेशात्तु श्रुतौ विकारः स्याद्गुणानामुपदेश्यत्वात् ॥१६॥

आधार विधि का प्रकृति में अतिदेश होता है। उपदेश्य मन्त्रविशेष यहाँ उत्तर आधार में है और वह उत्तर में अङ्गभूत तदर्थ विज्ञान का साधक है, अतः पूर्व में नहीं, उत्तर में ही गुणविधि होती है।

पूर्वस्मिन्चामन्त्रदर्शनात् ॥१७॥

और, पूर्व आधार में मन्त्रदर्शन नहीं है, अतः उत्तर की गुणविधि सिद्ध होती है।

संस्कारे तु क्रियान्तरं तस्य विधायकत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—वाक्य पशुनियोजन का विधायक होने से और परिधि के सम्बन्ध से पशु का संस्कार होने से प्राकृत कर्म से यह भिन्न है और वह अदृष्टार्थक है।

प्रकृत्यनुपरोवाच्च ॥१९॥

और, प्रकृति के अनुपरोध होने से भी यह क्रियान्तर होता है।

विधेस्तु तत्र भावात्सन्देहे यस्य शब्दस्तदर्थं स्यात् ॥२०॥

सि०—नियोजनविषयक प्राकृत और प्रत्यक्ष विधियों का क्रतुविशेष में भाव होने से, सन्देह में जिसके उद्देश्य से परिधिरूप शब्द प्रयोज्य है, वह नियोजनार्थक है, अतः यह गुणविधि है।

संस्कारसामर्थ्याद्गुणसंयोगाच्च ॥२१॥

संस्कार का सामर्थ्य और गुणों का सम्बन्ध होने से कर्मान्तर नहीं होता।

विप्रतिषेधात्क्रिया प्रकरणे स्यात् ॥२२॥

सोत्रामणी प्रकरण में दृष्टार्थकता सम्भावित न होने से कर्म अपूर्व कर्म है।

षड्भिर्दोक्षयतीति तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥

पूर्व०—‘षड्भिर्दोक्षयति’—इस श्रुति के साथ संयोग होने से प्राकृत आहुतियों का मन्त्र विकार होता है। वैकृत मन्त्रों से प्राकृत निवृत्त हो जाते हैं, अतः प्राकृतों का बाध है, समुच्चय नहीं है।

अभ्यासात्तु प्रधानस्य ॥२४॥

सि०—प्राकृत दीक्षा-आहुतियों की आवृत्ति—अभ्यास होने से समुच्चय है।

आवृत्त्या मन्त्रकर्म स्यात् ॥२५॥

आक्षेप—आवृत्ति होने पर भी मन्त्रकर्म होता है।

अपि वा प्रतिमन्त्रत्वात्प्राकृतानामहानिः स्यादन्यायश्च कृतेऽभ्यासः ॥२६॥

समा०—प्रत्येक मन्त्र में आहुतियाँ होने से प्राकृत मन्त्रों का अहान होता है। वैकृत मन्त्रों का प्रत्यक्ष पाठ है और प्राकृत मन्त्र अतिदेश से प्राप्त हैं, अतः दोनों प्रकरणों का समुच्चय हो सकता है। एक बार वैकृत मन्त्रों का पाठ होकर पुनः पाठ करना अन्याय है।

पूर्वापर्यञ्चाभ्यासे नोपपद्यते नैमित्तिकत्वात् ॥२७॥

और अभ्यास में पूर्वापर भाव उपपन्न नहीं होता, क्योंकि आगन्तुक नैमित्तिक होता है, इससे भी प्राकृत मन्त्रों का अहान है।

तत्पृथक्त्वं च दर्शयति ॥२८॥

‘आग्निकी’ और ‘आध्वरिकी’—दोनों ब्राह्मणियों का पृथक्त्व बताया गया है, दोनों ब्राह्मणियाँ देनी चाहिए, इससे भी प्राकृत और वैकृत दोनों मन्त्रों का समुच्चय है।

न चाविशेषाद्द्वयपदेशः स्यात् ॥२९॥

व्यपदेश होने से अनिवृत्ति समुच्चय है।

अग्न्याधेयस्य नैमित्तिके गुणविकारे दक्षिणादानमधिकं स्याद्

वाक्यसंयोगात् ॥३०॥

पूर्व०—पुनः आधेय में दक्षिणारूप गुण का विकार प्राप्त होने पर अग्न्याधान का दक्षिणा-दान अधिक है, वाक्य का संयोग होने से, अतः अनिवृत्ति समुच्चय है।

शिष्टत्वाच्चेतरासां यथास्थानम् ॥३१॥

और, अन्य प्राकृत दक्षिणा का यथाक्रम विधान होने से भी दक्षिणाओं का समुच्चय है।

विकारस्त्वप्रकरणे हि काम्यानि ॥३२॥

सि०—समुच्चय नहीं होता किन्तु विकार—बाध है, क्योंकि अप्रकृतिभूत विकृति-याग में पुनराधेय की जो दक्षिणा होती है, वह वर्तमान—पिछले अग्न्याधान की है, पूर्व अग्न्याधान की नहीं अर्थात् दोनों दक्षिणाओं का समुच्चय नहीं होता। (यह नियम है कि नैमित्तिक कर्म में नित्य कर्म का बाध होता है, जैसे बीमार को खिचड़ी, रोटी के स्थान पर दी जाती है, रोटी के साथ खिचड़ी नहीं।)

शङ्कते च निवृत्तेरभयत्वं हि श्रूयते ॥३३॥

‘प्राकृत दक्षिणा दी जाएगी अथवा नहीं,’ इस शंका का समाधान यह है कि पिछले अग्न्याधान में पहली दक्षिणाओं का बाध होगा, दोनों का समुच्चय नहीं होगा। श्रुति से यही सिद्ध होता है कि विकृति की दक्षिणा से दोनों का काम चल जाएगा।

वासो वत्सं च सामान्यात् ॥३४॥

और, वस्त्र अथवा पहलूठा वत्स (बछड़ा) कार्यसामान्य होने से पुनराधेय दक्षिणा का बाध करता है। (आग्रयण यज्ञ में वस्त्र या बछड़ा ही दान में दिया जाएगा, प्रकृति-याग में अन्वाहार्य नहीं दिया जाएगा।)

अर्थापत्तेस्तद्धर्मः स्यान्नमित्ताख्याभिसंयोगः ॥३५॥

प्राकृत मन्त्र आदि के उद्देश्यभूत दक्षिणा की प्राप्ति होने से वस्त्र या वत्स में अन्वाहार्य के धर्म होते हैं, मन्त्र निमित्त का दक्षिणा के साथ संयोग होने से। (अन्वाहार्य दक्षिणा के जो अन्य धर्म हैं, वे इस नई दक्षिणा में भी पालने पड़ेंगे। जैसे भात दिया जाता है, उसी प्रकार वस्त्र या वत्स भी दिया जाएगा।)

दाने पाकोऽर्थलक्षणः ॥३६॥

अन्वाहार्य धर्मों में भात का पाक भी कर्तव्य है परन्तु दान-साधन वत्स में उसकी निवृत्ति है, बछड़े को पकाया नहीं जाएगा।

पाकस्य चान्नकारित्वात् ॥३७॥

पाक तो ओदन आदि अन्न में कर्तव्य है, अतः वस्त्र में भी पाक की निवृत्ति है।

तथाभिघारणस्य ॥३८॥

इसी प्रकार अभिघारण = घी डालने की भी निवृत्ति है ।

द्रव्यविधिसन्निधौ संख्या तेषां गुणत्वात्स्यात् ॥३९॥

पूर्व०—द्रव्यविधि की सन्निधि में जो संख्या शब्द है, द्रव्य का गुण होने से उसका प्रत्येक द्रव्य के साथ सम्बन्ध है ।

समत्वात्तु गुणानामेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥४०॥

गुण और संख्या के समान होने से संख्या एक का ही निर्देश करती है, एक-एक का नहीं, श्रुति में स्पष्ट कथन होने से ।

यस्य वा सन्निधाने स्याद्वाक्यतो ह्यभिसम्बन्धः ॥४१॥

अथवा, जिस शब्द के सन्निधान में संख्या शब्द उच्चारित होता है, उसी के साथ उसका अभिसम्बन्ध होता है ।

असंयुक्तास्तु तुल्यवदितराभिघोयन्ते तस्मात्सर्वाधिकारः स्यात् ॥४२॥

असंयुक्त संख्या केवल 'माषों' में होती है, अन्य द्रव्यों का श्रुति के साथ समानता से विधान है, अतः संख्या का सबके साथ सम्बन्ध है ।

असंयोगाद्विधिश्रुतावेकजाताधिकारः स्यात् श्रुत्याकोपात्कृतोः ॥४३॥

सि०—संख्या का दो द्रव्यों के साथ संयोग न होने से विधिवाक्य में किसी एक द्रव्य के साथ सम्बन्ध का अन्वय है । विधिवाक्य का कोप होने से यह द्रव्य का बोधन करके क्रतु की बोधक है, अतः एकजातीय एक द्रव्य के साथ संख्या का सम्बन्ध है ।

शब्दार्थश्चापि लोकवत् ॥४४॥

लौकिक भाषा की भाँति वेद में भी शब्दों का अर्थ होता है ।

सा पशूनामुत्पत्तितो विभागात् ॥४५॥

सि०—संख्या पशुओं की उत्पत्ति से विभाग होने के कारण होती है अर्थात् पशु-गण संव्यवहारों में लोकव्यवहार से संख्यापित हुआ करते हैं, अतः पशुओं के साथ संख्या का सम्बन्ध है ।

अनियमोऽविशेषात् ॥४६॥

पूर्व०—पशुओं में गौओं का ही दान करना चाहिए, ऐसा कोई विशेष नियम नहीं बताया गया है ।

भागित्वाद्वा गवां स्यात् ॥४७॥

सि०—गौ महान् उपकार करनेवाली है, अतः गौओं का दान करना चाहिए ।

प्रत्ययात् ॥४८॥

विशेष्य की आकांक्षा से शास्त्र में सर्वप्रथम गौ का ही प्रतिपादन है ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४९॥

तथा, शास्त्रान्तर में भी गोदान के प्रमाण उपलब्ध होने से गौओं का ही दान करना चाहिए ।

तत्र दानं विभागेन प्रदानानां पृथक्त्वात् ॥५०॥

प्रतिग्रहीताओं के अलग-अलग होने से गौओं का दान विभाग करके (दान लेने-

बालों की योग्यतानुसार) देना चाहिए।

परिक्रयान्च लोकवत् ॥५१॥

जैसे लोक में स्वामी लकड़हारे आदि को विभाग करके मजदूरी देता है, उसी प्रकार विभाग करके दक्षिणा देनी चाहिए, क्योंकि यह परिक्रयार्थ है, केवल धर्म नहीं है।

विभागं चापि दर्शयति ॥५२॥

और, श्रुति भी विभाग का निर्देश करती है।

समं स्यादश्रुतित्वात् ॥५३॥

पूर्व०—सबको समान दक्षिणा देनी चाहिए, वैषम्य का श्रवण न होने से।

अपि वा कर्मवैषम्यात् ॥५४॥

अथवा, कर्मप्रमाणे वैषम्य भी होता है। जो अधिक कर्म करता है, उसे अधिक देना चाहिए। यह दूसरा पक्ष है।

अतुल्याः स्युः परिक्रये विषमालया विधिश्चतौ परिक्रयान्न कर्मण्युपपद्यते

दर्शनाद्विशेषस्य तथाभ्युदये ॥५५॥

सि०—दक्षिणा (पारिश्रमिक) समान नहीं होनी चाहिए। श्रुति-प्रमाण से ऋत्विजों में दक्षिणा का विभाग पारिश्रमिक के कारण विषम होता है। (किसी को आधा, किसी को चौथाई, किसी को तिहाई और ब्रह्मा तथा उद्गाता आदि को पूरा-पूरा भाग मिलता है) यह वैषम्य कर्म के कारण नहीं है, यह श्रुतिकृत वैषम्य है, जैसा कि 'अभ्युदय' नामक सत्र में विधान है।

तस्य धेनुरिति गवां प्रकृतौ विभक्तं चोदितत्वात्तत्सामान्यात्तद्विकारः

स्याद्यथेष्टिर्गुणशब्देन ॥५६॥

पूर्व०—'भूयाग' की दक्षिणा एक धेनु विहित है। वह अतिदेश से प्राप्त गोरूप दक्षिणा का बाध करती है। प्रकृतियाग में गौ, अश्वदि भिन्न-भिन्न दक्षिणाएँ बताने से और धेनु तथा गौ के समान होने से उसका बाध होता है, जैसे इष्टि में विहित द्रव्य सूर्य आदि के साथ सम्बन्ध बताता है।

सर्वस्य वा ऋतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य गुणानां कार्यकत्वादर्थे विकृतौ

श्रुतिभूतं स्यात्तया समवायाद्धि कर्मभिः ॥५७॥

सि०—इससे सर्वऋतु दक्षिणा का बाध होता है। सर्वदक्षिणा का ऋतु के साथ सम्बन्ध होने से एकत्व अर्थात् समुच्चय है। ऋतु में जो गुण होता है, उसका मुख्य कार्य के साथ सम्बन्ध होता है। विकृति में जो श्रुति होती है, वह प्राकृत अर्थ का बाध करती है, अतः समुच्चय कर्म होने से धेनुरूप दक्षिणा सर्वदक्षिणी की निवर्तिका है।

चोदनानामनाश्रयाल्लिङ्गेन नियमः स्यात् ॥५८॥

यदि प्राकृत कार्य अनाश्रय हो तो लिङ्ग के द्वारा उसका नियम होता है, परन्तु यहाँ तो धेनुरूप दक्षिणा की स्पष्ट विधि है, अतः सर्वप्राकृत दक्षिणा का बाध है।

एका पञ्चेति धेनुवत् ॥५९॥

पूर्व०—एक गौ अथवा पाँच गौओं की दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निवर्तिका है, जैसे उपर्युक्त प्रकरण में धेनु-दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निवर्तिका है।

त्रिवत्सश्च ॥६०॥

‘साद्यस्क्र’ याग में तीन वर्ष के बछड़े की दक्षिणा से अन्य सब दक्षिणाओं का बाध हो जाता है।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥६१॥

श्रीर, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

एके तु श्रुतिभूतत्वात्संख्यया गवां लिङ्गविशेषेण ॥६२॥

सि०—‘एकाम्’ यह स्त्रीलिङ्ग है और गौ का विशेषण है, अतः प्राकृत संख्यायुक्त गौश्रों की निवृत्ति करता है। ‘एकाम्’ का सम्बन्ध दक्षिणा के साथ नहीं है, अतः साद्यस्क्र याग में विहित एक गाय की दक्षिणा प्राकृत संख्याविशिष्ट गौश्रों की निवृत्तिका है, अश्वदि की नहीं।

प्राकाशौ च तथेति चेत् ॥६३॥

आक्षेप—अश्वमेध याग में अश्वर्यु को दो सुवर्णमय दीपस्तम्भ देने का विधान है, अतः अन्य किसी दक्षिणा की आवश्यकता नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

अपि त्वयवयवार्थत्वं द्विभक्तप्रकृतित्वाद्गुणैवन्ताविकारः स्यात् ॥६४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रकाश दक्षिणा अवयवकार्य के लिए है, कृत्स्न = सम्पूर्ण कार्य के लिए नहीं, क्योंकि अश्वर्यु आदि के भाग विभक्त होते हैं। ‘प्रकाश’ दक्षिणा अश्वर्यु की होने से अन्य दक्षिणाओं का बाध नहीं होता, वह तो देनी ही पड़ेगी।

धेनुवच्चाश्वदक्षिणा स ब्रह्मण इति पुरुषापनयो यथा हिरण्यस्य ॥६५॥

उपह्वय नामक एकाह याग में जो अश्व-दक्षिणा है, वह धेनु-दक्षिणा के समान सम्पूर्ण दक्षिणा की निवृत्तिका है। वह ब्रह्मा को देय है, अन्य ऋत्विजों के लिए नहीं जैसे ‘शतकृष्णल’ याग में सुवर्ण की दक्षिणा केवल ब्रह्मा के लिए है।

एके तु कर्तृसंयोगात्स्रग्वत्तस्य लिङ्गविशेषेण ॥६६॥

पूर्व०—एक लिङ्गविशेष से कर्तृसंयोग होने से स्रक् = माला की भाँति अर्थ निवृत्त होते हैं।

अपि वा तदधिकाराद्विरण्यवद्विकारः स्यात् ॥६७॥

सि०—दक्षिणा का अधिकार होने से हिरण्य के समान वह अश्व-दक्षिणा अन्य प्राकृतिक दक्षिणाओं का बाध करती है।

तथा च सोमचमसः ॥६८॥

पूर्व०—उसी प्रकार ‘ऋतपेय’ याग में ‘सोमचमस’ की दक्षिणा अन्य सब दक्षिणाओं का बाध करती है।

सर्वविकारो वा ऋत्वर्थे पशूनां प्रतिषेधात् ॥६९॥

सि०—ऋत्वर्थक दान में पशुदान का प्रतिषेध है, अतः वह सर्वदक्षिणाओं का बाध करता है।

ब्रह्मदानेऽविशिष्टमिति चेत् ॥७०॥

आक्षेप—ब्रह्मदान में भी पशुप्रतिषेधानुवाद अवकल्पित होता है, यदि ऐसा कहो तो—

उत्सर्गस्य ऋत्वर्थत्वात्प्रतिषिद्धस्य कर्मत्वान्न च गौणः प्रयोजनमर्थः

स दक्षिणानां स्यात् ॥७१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। सोमचमस का दान ऋतु के लिए है। ऋतु में जो पशुदान है, प्रकृतियाग में उसका निषेध होने से सबके स्थान में चमस-दक्षिणा है। चमसरूप दक्षिणा का प्रयोजन गौण नहीं है, अतः सोमचमसरूप दक्षिणा सम्पूर्ण ऋतुदक्षिणा का बाध करती है।

यदि तु ब्रह्मस्तदूनं तद्विकारः स्यात् ॥७२॥

पूर्व०—यदि सोमचमस दान ब्रह्मा का भाग है तो वह दक्षिणा ब्रह्मभाग से ऊन=ग्रह्य हो जाएगी। इस विचार से अन्य दक्षिणा दी जाया करेगी।

सर्वं वा पुरुषापनयात्तासां ऋतुप्रधानत्वात् ॥७३॥

सि०—दक्षिणाओं में ऋतु-प्रधानता होने से पुरुष-अपनय (अन्य ऋत्विजों के भाग का निषेध) किया जाता है कि वह ब्रह्मा को ही देना चाहिए।

यजुर्युक्तेऽध्वर्योर्दक्षिणा विकारः स्यात् ॥७४॥

पूर्व०—वाजपेय याग में यजुरथ (रथविशेष) अध्वर्यु को दिया जाता है, वह अन्य दक्षिणाओं का बाध करता है।

अग्नि वा श्रुतिभूतत्वात्सर्वासां तस्य भागो नियम्यते ॥७५॥

सि०—वाजपेय याग में श्रुति द्वारा सप्तदश रथ आदि बहुत-सी दक्षिणाओं का विधान है। इनमें यजुरथ अध्वर्यु को दिया गया, ऋग्युक्त रथ होता को और सामयुक्त उद्गाता को। शेष का सबमें यथायोग्य विभाग हुआ, अतः यजुरथ किसी का बाध नहीं करता।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

प्रकृतिलिङ्गसंयोगात्कर्मसंस्कारं विकृतावधिकं स्यात् ॥१॥

नारिष्ठ आदि उपहोमों का प्रकृति के कार्य के साथ संयोग न होने से वह अद्भुत फलवाला है, अतः उसका विकृति में समुच्चय है।

चोदनालिङ्गसंयोगे तद्विकारः प्रतीयेत प्रकृतिसन्निधानात् ॥२॥

प्राकृत विधि में संयोग होने से उसके विकार की प्रतीति होती है, क्योंकि वहाँ प्रकृतिलिङ्ग से संयोग होता है।

सर्वत्र तु ग्रहाम्नातमधिकं स्यात्प्रकृतिवत् ॥३॥

'बृहस्पति-सव' आदि विकृतियागों में ग्रहों का ग्रहाम्नात होने से सर्वत्र बृहस्पति ग्रहों के साथ इन्द्रवायु ग्रहों का समुच्चय होता है, प्रकृतियाग के समान।

अधिकश्चैकवाक्यत्वात् ॥४॥

एकवाक्यता होने से भी समुच्चय होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी समुच्चय होता है ।

प्राजापत्येषु चाम्नानात् ॥६॥

तथा, वाजपेय याम में उपदिष्ट प्राजापत्य पशुओं के साथ अतिदिष्ट ऋतु पशुओं का समुच्चय होता है, आम्नान होने से ।

आमने लिङ्गदर्शनात् ॥७॥

‘सांग्रहरण’ इष्टि में अनुयाजों का ‘आमन’ होमों के साथ समुच्चय होता है, प्रमाणों के उपलब्ध होने से ।

उपगेषु शरवत्स्यात्प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ॥८॥

पूर्व०—उपगान करनेवालों में दर्भ में जैसे शर बाधक होता है, उसी प्रकार पत्न्युपगान बाधक होता है, प्राकृत उपगान के साथ सम्बन्ध होने से ।

आनर्थक्यात्त्वधिकं स्यात् ॥९॥

सि०—ऋत्विगुपगान के साथ पत्न्युपगान का समुच्चय है, अनार्थक्य होने से ।

संस्कारे चान्यसंयोगात् ॥१०॥

अञ्जन और अम्यञ्जन संस्कार में दीक्षाकाल और सुत्याकाल का संयोग होने से समुच्चय है ।

प्रयाजवदिति चेन्नार्थन्यत्वात् ॥११॥

प्रयाज के समान भिन्नकालिक होने से इसका बाध होता है, यदि ऐसा कहो तो— यह ठीक नहीं । भिन्न कार्य होने से बाध नहीं हो सकता ।

आच्छादने त्वंकार्थ्यात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—प्राकृत और वंक्रुत—दोनों का एक ही आच्छादनरूप प्रयोजन होता है, अतः प्राकृत में अहत (कोरे) वस्त्रों का बाध होता है ।

अधिकं वाऽन्यार्थत्वात् ॥१३॥

सि०—महाव्रत में तार्प्य आदि वस्त्रों का प्रकृतियाग के अहत-वस्त्रों के साथ समुच्चय होता है, भिन्न प्रयोजन होने से ।

सामस्वर्थान्तरश्रुतेरविकारः प्रतीयेत ॥१४॥

सामगान में प्राकृत साम के साथ समुच्चय की प्रतीति होती है ।

अर्थे त्वश्रूयमाणे शेषत्वात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ॥१५॥

प्राकृतफल श्रूयमाण न होने पर शेष होने से प्राकृत सामगान का बाध होता है ।

सर्वेषामविशेषात् ॥१६॥

पूर्व०—कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध न होने से विकृति पठित साम प्रकृति-पठित सभी सामों का निवर्तक होता है ।

एकस्य वा श्रुतिसामर्थ्यात्प्रकृतेश्चाविकारात् ॥१७॥

सि०—श्रुति का सामर्थ्य होने से एक साम एक का ही निवर्तक होता है, प्राकृत साम का ग्रहण न होने से ।

स्तोमविवृद्धौ त्वधिकं स्यादविवृद्धौ द्रव्यविकारः स्यादितरस्याश्रुतित्वात् ॥१८॥

जिस ऋतु में स्तोम की वृद्धि होती है, उसमें प्रकृति और विकृति सामों का समुच्चय होता है। दोनों का श्रवण न होने से आगम के द्वारा संख्यापूर्ति की जाती है। जिस ऋतु में स्तोम की वृद्धि नहीं होती, वहाँ सामरूप द्रव्य का बाध होता है।

पवमाने स्यातां तस्मिन्नावापोद्वापदर्शनात् ॥१९॥

पवमान स्तोत्र में 'आवाप' (पवमान स्तोत्रों में कुछ वृद्धि) और 'उद्वाप' (पवमान स्तोत्रों में कुछ घटाना) होता है, पवमान स्तोत्र में आवाप और उद्वाप दोनों का विधान होने से।

वचनानि त्वपूर्वत्वात् ॥२०॥

न्याय (दलील) के अभाव में वचन ही निर्णायक होने से पवमान स्तोत्रों में ही आवाप और उद्वाप हो सकता है।

विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना ॥२१॥

मन्त्र-सम्बन्धी देवतावाची शब्द का उच्चारण आवश्यक होने से याग और निर्वाप में उसी शब्द का उच्चारण होना चाहिए, उसी शब्द का विधान होने से (जैसे अग्नये स्वाहा के स्थान पर पावकाय स्वाहा नहीं पढ़ना चाहिए)।

शेषाणां वा चोदनैकत्वात्समात् सर्वत्र श्रूयते ॥२२॥

शेष मन्त्रों में भी विधि की एकरूपता होने से सभी स्थानों पर विधिगत शब्दों का ही प्रयोग उपलब्ध होता है।

तथोत्तरस्यां ततो तत्प्रकृतित्वात् ॥२३॥

उसी प्रकार सौर्यादि विकृतियाग में भी शब्द का नियम है, क्योंकि वह दर्श-पौर्णमास प्रकृतिवाला है।

प्रकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात् ॥२४॥

प्राकृत अग्नि की गुणश्रुति में सगुण अग्नि का-अभिधान करना चाहिए।

अविकारो वाऽर्थशब्दानपायात् स्याद् द्रव्यवत् ॥२५॥

पूर्व०—केवल अग्नि शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। केवल अग्नि शब्द के प्रयोग से भी अर्थ का त्याग नहीं होता, द्रव्य की भाँति।

आरम्भसमवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वा-

दवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात् ॥२६॥

सि०—विधिविहित सगुण में अभिधान करना आरम्भ समवाय के कारण होता है। उत्पत्तिवाक्य में गुणविशिष्ट अग्नि आदि का बोध कठिन होने से केवल अग्नि शब्द का प्रयोग स्वीकार किया जाए तो गुण शासन निरर्थक हो जाएगा।

द्रव्येष्वा रम्भगामित्वादर्थे विकारः सामर्थ्यात् ॥२७॥

द्रव्यों में आरम्भ समवाययुक्त होने से केवल गुणरहित द्रव्य का अभिधान ऋष्ट है, देवता का नहीं।

वृधन्वान्पवमानवद्विशेषनिर्देशात् ॥२८॥

पूर्व०—पवमान इष्टि में जैसे सगुण देवता का अभिधान होता है, वैसे ही

‘वृधन्वान्’ अग्नि में भी करना चाहिए, क्योंकि विशेष का निर्देश है और वह निर्देश अर्थ-वाला होता है, अतः सगुण अग्नि का अभिधान होना चाहिए ।

मन्त्रविशेषनिर्देशान्न देवताविकारः स्यात् ॥२६॥

सि०—मन्त्रविशेष के निर्देशक होने से देवता का विकार नहीं होता, अतः देवता का निर्गुण ही अभिधान करना चाहिए ।

विधिनिगमभेदात्प्रकृतौ तत्प्रकृतित्वाद्विकृतावपि भेदः स्यात् ॥३०॥

पूर्व०—प्रकृति में विधि और निगम में भेद होने से विकृति में भी भेद होता है, तत्प्रकृतित्व होने से ।

यथोक्तं वा विप्रतिपत्तेर्न चोदना ॥३१॥

सि०—यथोक्त वचन से ही अभिधान करना चाहिए, क्योंकि विधि और निगम की प्रतिपत्ति की चोदना नहीं है ।

स्विष्टकृद्देवतान्यत्वे तच्छब्दत्वान्निवर्तते ॥३२॥

पूर्व०—प्रकृतियाग में स्विष्टकृत् में जो देवता है, उसके भिन्न होने से और प्राकृत अग्निरूप अर्थविशिष्ट शब्द होने से स्विष्टकृत् शब्द की निवृत्ति होती है ।

संयोगे वाऽर्थापत्तेरभिधानस्य कर्मजत्वात् ॥३३॥

सि०—स्विष्टकृत् सहित अग्नीवरुण अभिधान करना चाहिए, क्योंकि अर्थापत्ति से स्विष्टकृत् शब्द क्रियानिमित्तक है (अग्नि के अर्थ में अग्नि और वरुण श्रूयमाण होते हैं) ।

सगुणस्य गुणलोपे निगमेषु गुणास्थाने यावदुक्तं स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—प्रकृति में सगुणस्थान में गुणलोप प्राप्त होने से मन्त्रों में जितना कहा गया है, वह होता है । इससे याग में ही लोप होता है, सब निगमों—मन्त्रों में नहीं ।

सर्वस्य वैकर्म्यात् ॥३५॥

सि०—स्विष्टकृत् अग्निशब्द के गुण का लोप होना चाहिए, क्योंकि यागरूप प्रयोग एक है, अतः निगदों और निगमों में भी गुणरहित अग्निशब्द का अभिधान करना योग्य है ।

स्विष्टकृदावापिकोऽनुयाजे स्यात् प्रयोजनवदङ्गनामार्थसंयोगात् ॥३६॥

समीपवर्ती अङ्गों का वाक्य में श्रूयमाण अर्थ के साथ संयोग होने से प्रयोजनवान् अग्नि की भाँति अनुयाज में स्विष्टकृत् आवापिक (संस्कार-सम्बन्धी) होता है ।

अन्वाहेति च शस्त्रवत् कर्म स्याच्चोदनान्तरात् ॥३७॥

पूर्व०—‘अन्वाह’ इत्यादि शंसति की भाँति प्रधान कर्म है, स्वतन्त्र विधिविहित होने से ।

संस्कारो वा चोदितस्य शब्दस्य वचनार्थत्वात् ॥३८॥

सि०—दर्शोर्णमास के अनुयाजों में स्विष्टकृत् आहुति संस्कार के लिए है, स्वतन्त्र कर्म नहीं है, क्योंकि विहित जो वाचक शब्द है, वह दृष्टार्थ का बोधक है ।

अवाच्यत्वान्नेति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—विधि न होने से दृष्टार्थक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद् गुणार्थत्वात् ॥४०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं; गुणार्थक होने से 'अन्वह' प्रधान कर्म नहीं, संस्कार कर्म हैं।

मनोतायां तु वचनादविकारः स्यात् ॥४१॥

मनोता मन्त्र (त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता) में वचन होने से अविकार होता है, ऊह नहीं होता।

पृष्ठार्थेऽन्यद्व्यन्तरात्तद्योनिपूर्वत्वात् स्यादृचां प्रविभक्तत्वात् ॥४२॥

पूर्व०—पृष्ठस्तोत्र कार्य में रथन्तर से भिन्न जो कण्वरथन्तर-सामविहित है, वह ज्योतिष्टोम प्रकृतिवाला होने से रथन्तर योनि में गान करना चाहिए। वृहद् योनिभूत ऋचा के पृथक् होने से उसमें नहीं गाना चाहिए।

स्वयोनौ वा सर्वाख्यत्वात् ॥४३॥

सि०—कण्वरथन्तर शब्द सामविशेष में रूढ़ होने से कण्वरथन्तर की योनि में ही गाना चाहिए।

यूपवदिति चेत् ॥४४॥

यूप शब्द के समान संस्कार के निमित्त यह शब्द प्रवृत्त होता है, यदि ऐसा कही तो—

न कर्मसंयोगात् ॥४५॥

उक्त कथन ठीक नहीं। कर्म के साथ सम्बन्ध होने से कण्वरथन्तर स्वयोनि में ही गेय है।

कार्यत्वादुत्तरयोर्यथाप्रकृति ॥४६॥

पूर्व०—सामगानरूप कार्य प्रथम के अतिरिक्त अन्य दो ऋचाओं में भी होने से उन्हीं विशेष योनियों (ऋचाओं) पर गाया जाना चाहिए, रथन्तर आदि अन्य सामों की योनियों पर नहीं।

समानदेवते वा तृचस्याविभागात् ॥४७॥

सि०—तृच (तीन ऋचाओं) का अविभाग होने से सामगानरूप कर्म स्वयोनि उत्तरों में ही गेय होता है, क्योंकि सम्पूर्ण तृच का छन्द और देवता समान होता है।

ग्रहाणां देवतान्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः कर्मत्वादविकारः स्यात् ॥४८॥

ग्रहों का देवता स्तुतशस्त्र मन्त्र के देवता से भिन्न होने पर ऊह नहीं होता, मन्त्र का ज्यों-का-त्यों प्रयोग होता है, क्योंकि स्तोत्र और शस्त्र प्रधान कर्म हैं।

उभयपानात्पृषदाज्ये दध्नोऽप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात् ॥४९॥

पूर्व०—पृषदाज्य हविष् में दधि और घृत दोनों का पान होने से वह दधि का उपलक्षण है, क्योंकि मन्त्र में जो पीने योग्य वस्तु है, उसमें उपलक्षण है।

न वा परार्थत्वाद्यज्ञपतिवत् ॥५०॥

सि०—पर-प्रत्यायक (दूसरे के लिए) होने से दधि और आज्य—दोनों का मन्त्र में प्रयोग नहीं है।

स्याद्वा आवाहनस्य तादर्थ्यात् ॥५१॥

पूर्व०—‘दधि’ पद का प्रक्षेप करना चाहिए, क्योंकि आवाहन पातु और पेय—दोनों का स्मरण कराने के लिए है।

न वा संस्कारशब्दत्वात् ॥५२॥

सि०—दधि का उपलक्षण नहीं होता, क्योंकि दधिरूप अर्थ तो संस्कार के लिए है।

स्याद्वा द्रव्याभिधानात् ॥५३॥

पूर्व०—दधि शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि दधि भी द्रव्य की भाँति अभिहित है।

दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपानिगमाः स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात् ॥५४॥

सि०—दधि शब्द गौण होने से मन्त्रों में आज्य शब्द का प्रयोग होना चाहिए। दधि को गुणत्व है, क्योंकि श्रुति में आज्य की प्रधानता स्पष्ट रूप से बताई गई है।

दधि वा स्यात्प्रधानमाज्ये प्रथमान्त्यसंयोगात् ॥५५॥

पूर्व०—दधि प्रधान है, आज्य में प्रथम और अन्त संयोग होने से। प्रथम संयोग उपलक्षण होता है और अन्त-संयोग अभिधारण होता है, अतः दधि का ही उपलक्षण करना चाहिए।

अपि वाऽज्यप्रधानत्वाद्गुणार्थे व्यपदेशे भक्त्या संस्कारशब्दः स्यात् ॥५६॥

सि०—याग के सम्बन्ध से प्रयोजनवाला आज्य ही प्रधान है। गुणार्थ होने से उपस्तरण आदि भक्ति-अर्थात् लक्षणा से प्रयुक्त हैं, अतः दधि संस्कार के लिए है, मुख्य नहीं है।

अपि वाऽस्थायिकारत्वात्तेन स्यादुपलक्षणम् ॥५७॥

पूर्व०—संज्ञा का भेद होने से उस संज्ञा का मन्त्र में प्रयोग करना चाहिए।

न वा स्याद्गुणशास्त्रत्वात् ॥५८॥

सि०—ऊह नहीं करना चाहिए, क्योंकि शास्त्र में गुण का विधान है। भाव यह है कि ‘आज्यपान्’ शब्द के स्थान में ‘दधिपान्’ नहीं कहना चाहिए।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पञ्चमः पादः

आनुपूर्व्यवतामेकदेशग्रहणेऽवागमवदन्त्यलोपः स्यात् ॥१॥

सि०—नियत क्रमवालों में एक देश (एक भाग) का ग्रहण होता है, अन्तवालों का लोप होता है। अन्त्य का लोप और आद्य का उपादान मुख्य होने से होता है, लोक-समाज में आनेवालों की भाँति।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

लोप और उपादान में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

विकल्पो वा समत्वात् ॥३॥

पूर्व०—आद्योपादान और अन्त्यलोप में कोई श्रुति नहीं है, दोनों समान हैं, अतः विकल्प होता है। कभी आरम्भवालों का और कभी अन्तवालों का लोप होता है।

ऋमादुपसर्जनोऽन्ते स्यात् ॥४॥

जहाँ क्रम निर्धारित होता है, वहाँ ही अप्रधान अन्त में आता है, अतः लोक-समाज का दृष्टान्त ठीक नहीं है।

लिङ्गमविशिष्टं संख्याया हि तद्वचनम् ॥५॥

जो लिङ्गवाक्य कहा गया है, वह भी विशिष्ट नहीं है, क्योंकि वह वचन तो केवल संख्या का बोध कराता है।

आदितो वा प्रवृत्तिः स्यादावर्म्भस्य तदादित्वाद्द्वचनादन्यविधिः स्यात् ॥६॥

सि०—आदि से प्रवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रारम्भ सदा आदि से ही होता है परन्तु यदि श्रुति में विशेष आदेश हो तो अन्यविधि हो सकती है।

एकत्रिके तृचादिषु माध्यन्दिनछन्दसां श्रुतिभूतत्वात् ॥७॥

पूर्व०—'एकत्रिक' नामक ऋतु में माध्यन्दिन पवमान में तीन ऋचाओं में से प्रत्येक तृच की प्रथम ऋचा में गान होता है, क्योंकि श्रुति में तीन छन्दों का विधान पाया जाता है।

आदितो वा तन्यायत्वादितरस्यानुमानिकत्वात् ॥८॥

सि०—आद्य तृच में ही गान करना चाहिए, यही न्याय है। प्रत्येक तृच की पहली ऋचा से गान करना चाहिए, यह तो आनुमानिक है।

यथानिवेशञ्च प्रकृतित्वसंख्यामात्रविकारत्वात् ॥९॥

प्रकृति में तृच का जो क्रम संनिवेश है, उससे संख्या-मात्र का बाध है। ऋमानुग्रह मुख्य है, अतः आद्य तृच में ही गान होना चाहिए।

त्रिकस्तृचे धुर्ये स्यात् ॥१०॥

पूर्व०—धूर्साम-गान में जो त्रिकस्तोत्र है, वह तीनों ऋचाओं में ही होना चाहिए।

एकस्यां वा स्तोमस्यावृत्तिधर्मत्वात् ॥११॥

सि०—धूर्साम-गान एक ही ऋचा पर होगा, क्योंकि धूर्गान में उसी ऋचा को बार-बार दुहराना पड़ता है।

चोदनासु त्वपूर्वत्वलिङ्गेन धर्मनियमः स्यात् ॥१२॥

विधिविहित द्विरात्रयाग में प्रायणीय और उदयनीयों में पूर्वत्व के असम्भव होने से विध्यन्त प्रवृत्त होता है। यह विध्यन्त लिङ्ग के द्वारा नियत किया जाता है।

प्राप्तिस्तु रात्रिशब्दसम्बन्धात् ॥१३॥

रात्रि (द्विरात्रम्, दशरात्रम्) का सम्बन्ध दोनों स्थानों पर है, अतः द्वादशरात्र के धर्मों की द्विरात्र में प्राप्ति है।

अपूर्वासु तु संख्यासु विकल्पः स्यात्सर्वासामर्थवत्त्वात् ॥१४॥

विधिविहित संख्याओं में विकल्प होता है, क्योंकि इस प्रकार से सभी ऋचाओं का अर्थवत्त्व हो जाएगा ।

स्तोमविवृद्धौ प्राकृतानामभ्यासेन संख्यापूरणमविकारात्संख्यायां

गुणशब्दत्वादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ॥१५॥

पूर्व०—स्तोम (स्तुति के साम मन्त्रों) की जहाँ वृद्धि होती है, वहाँ प्रकृति से विहित साम ऋचाओं में अभ्यास से संख्या की पूर्ति की जाती है, सन्निधान होने से । एकविंशति संख्या शब्द गुण होने से और अप्राकृत ऋचाओं के अशास्त्रीय होने से ।

आगमेन वाऽभ्यासस्याश्रुतित्वात् ॥१६॥

सि०—अप्राकृत सामों की आगमों से संख्यापूर्ति करनी चाहिए, क्योंकि अभ्यास श्रूयमाण नहीं होता ।

संख्यायाश्च पृथक्त्वनिवेशात् ॥१७॥

संख्या पृथक्त्व निवेशनी होती है, अतः उसकी पूर्ति आगम से ही करनी चाहिए ।

पराक्छब्दत्वात् ॥१८॥

'पराक्' शब्द का प्रयोग होने से भी भिन्न-भिन्न साम-ऋचाओं से संख्या की पूर्ति करनी चाहिए, यही सिद्ध होता है ।

उक्ताविकाराच्च ॥१९॥

और, निन्दा का श्रवण होने से भी अभ्यास नहीं है, आगम है ।

अश्रुतित्वादिति चेत् ॥२०॥

आक्षेप—आगम भी श्रूयमाण नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादर्थचोदितानां परिमाणशास्त्रम् ॥२१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं । एकविंश संख्या के कहने से स्पष्ट विधान है, अतः परिमाण बतानेवाले शास्त्र-प्रमाण से कार्य होना चाहिए ।

आवापवचनं वाऽभ्यासे नोपपद्यते ॥२२॥

अभ्यास में आवाप-वचन भी उपपन्न नहीं होता, अतः आगम ही होता है ।

साम्ना चोत्पत्तिसामर्थ्यात् ॥२३॥

और, सामों की उत्पत्ति भी आगम से ही पूरी होती है ।

घुर्षेणपीत्ति चेत् ॥२४॥

आक्षेप—फिर तो घूर्साम में भी आवृत्ति—अभ्यास न होकर आगम होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नावृत्तिधर्मत्वात् ॥२५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि घूर्साम आवृत्ति के धर्मवाला है, वहाँ आगम नहीं होगा ।

बहिष्पवमाने तु ऋगागमः सामैकत्वात् ॥२६॥

बहिष्पवमान नामक स्तोमवृद्धि में ऋचाओं का आगम करना पड़ता है, क्योंकि उनमें साम का एकत्व होता है ।

अभ्यासेन तु संख्यापूरणं सामिधेनीष्वभ्यासप्रकृतित्वात् ॥२७॥

पूर्व०—प्रकृति में अभ्यास होने से सामिधेनीयों में अभ्यास से ही संख्या की पूर्ति करनी चाहिए ।

अविशेषान्नेति चेत् ॥२८॥

आक्षेप—अभ्यास और आगम में कोई विशेषता नहीं है, यदि ऐसा कही तो—
स्याद्धर्मत्वात् प्रकृतिवदभ्यस्येताऽऽसंख्यापूरणात् ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं । विकृति-धर्मता होने से ही अभ्यास होता है, पूर्व-प्रकृति की संख्या के समान । जब तक संख्या पूरी न हो, तब तक अभ्यास होना चाहिए ।

यावदुक्तं वा कृतपरिमाणत्वात् ॥३०॥

सि०—शास्त्र में जितना निर्देश है, उतना ही अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि निश्चित परिमाण निर्दिष्ट किया गया है ।

अधिकानाञ्च दर्शनात् ॥३१॥

अधिकों का दर्शन होने से भी अभ्यास नहीं है, आगम है ।

कर्मस्वपीति चेत् ॥३२॥

आक्षेप—धूर्साम-गान में भी ऐसा ही होना चाहिए, यदि ऐसा कही तो—
न चोदितत्वात् ॥३३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ स्पष्ट विधान है, अतः आगम से ही संख्यापूर्ति करनी चाहिए ।

षोडशिनो वैकृतत्वं तत्र कृत्स्नविधानात् ॥३४॥

पूर्व०—षोडशी का वैकृतत्व है अर्थात् षोडशी-ग्रह विकृतिविहित पदार्थ है, विकृति में उसका सम्पूर्ण विधान होने से ।

प्रकृतौ चाऽभावदर्शनात् ॥३५॥

और, प्रकृति में षोडशी ग्रह के अभाव का दर्शन होने से प्रकृति में इसका निषेध भी है, अतः यह वैकृत है ।

अग्रजवचनाच्च ॥३६॥

तथा, किन्हीं स्थानों पर षोडशी से रहित ज्योतिष्टोम को अग्रज कहा है, अतः यह वैकृत है ।

प्रकृतौ वा शिष्टत्वात् ॥३७॥

सि०—प्रकृति=ज्योतिष्टोम में विहित होने से षोडशी प्राकृत है ।

प्रकृतिदर्शनाच्च ॥३८॥

और, प्रकृति में षोडशी के दर्शन होने से भी षोडशी प्राकृत है ।

आम्नानं परिसंख्यार्थम् ॥३९॥

परिसंख्या के लिए षोडशी का विकृति में भी आम्नान है ।

उक्तमभावदर्शनम् ॥४०॥

प्रकृति में षोडशी के अभावदर्शन से वैकल्पिक षोडशी होती है ।

गुणादयज्ञत्वम् ॥४१॥

षोडशी को 'अयज्ञ' भक्ति से कहा गया है। पक्ष में यज्ञ न होने से वह वैकल्पिक है। पक्ष में अभाव होने से गौणवृत्ति से उसे अयज्ञ कहा जाता है। वस्तुतः षोडशी प्राकृत है और यह सिद्धान्त-पक्ष में ग्रहण होती है।

तस्याग्रयणाद्ग्रहणम् ॥४२॥

उस षोडशी-ग्रह का ग्रहण आग्रयण से करना चाहिए।

उक्थ्याच्च वचनात् ॥४३॥

पूर्व०—उक्थ्य से भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसे प्रमाण पाये जाते हैं।

तृतीयसवने वचनात्स्यात् ॥४४॥

प्रमाण उपलब्ध होने से तृतीय सवने में भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

अनभ्यासे पराक्छन्दस्य तादर्थ्यात् ॥४५॥

'पराक्' शब्द अनभ्यास में होता है, क्योंकि उसका अवगम तादर्थ्य होता है, अतः उक्थ्य और आग्रयण से षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

उक्थ्यविच्छेदवचनाच्च ॥४६॥

और, विच्छेदक के उपलब्ध होने से उक्थ्य से भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

आग्रयणाद्वा पराक्छन्दस्य देशवाचित्वात्पुनराधेयवत् ॥४७॥

सि०—'पराक्' शब्द देशवाची होने से पुनराधेय की भाँति आग्रयण से ही षोडशा का ग्रहण करना चाहिए।

विच्छेदः स्तोमसामान्यात् ॥४८॥

विच्छेद—वचन स्तोम सामान्य के कारण है, अतः आग्रयण से ही षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

उक्थ्याऽग्निष्टोमसंयोगादस्तुतशस्त्रः स्यात्सति हि संस्थान्यत्वम् ॥४९॥

पूर्व०—षोडशी का उक्थ्य और अग्निष्टोम के साथ सम्बन्ध होने से यह स्तोत्र और शस्त्र से रहित होती है। यदि इसे स्तोत्र और शस्त्र से युक्त माना जाए तो भिन्न संस्था माननी पड़ेगी, अतः षोडशी स्तोत्र और शस्त्र से रहित ही होती है।

सस्तुतशस्त्रो वा तदङ्गत्वात् ॥५०॥

सि०—षोडशी स्तोत्र और शस्त्र सहित होती है, क्योंकि स्तोत्र और शस्त्र षोडशी के अङ्ग होते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५१॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि स्तोत्र और शस्त्र षोडशी के अङ्ग हैं।

वचनात्संस्थान्यत्वम् ॥५२॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भिन्न संस्था भी मान्य है।

अभावादतिरात्रेषु गृह्यते ॥५३॥

पूर्व०—अङ्गिरस का द्विरात्र में अभाव होने से अङ्गिरस द्विरात्र में षोडशी का ग्रहण होता है ।

अन्वयो वाऽनारभ्यविधानात् ॥५४॥

सि०—षोडशी का भी अन्वय इस क्रतु में होता है, क्योंकि अनारम्भ विधान होता है ।

चतुर्थं चतुर्थेऽहन्यहीनस्य गृह्यते इत्यभ्यासेन प्रतीयेत भोजनवत् ॥५५॥

पूर्व—अहीन याग में चौथे-चौथे दिन में षोडशी का ग्रहण होता है, इसलिए एक अहीन में भोजन की भाँति अभ्यास प्रतीत होता है ।

अपि वा संख्यावत्त्वान्नाहीनेषु गृह्यते पक्षवदेकस्मिन्संख्यार्थभावात् ॥५६॥

सि०—‘चतुर्थं’ पद संख्यावाचक होने से भिन्न-भिन्न अहीन यागों में षोडशी का ग्रहण होता है, क्योंकि एक में संख्या का प्रयोजन सफल नहीं होता ।

भोजने च तत्संख्यं स्यात् ॥५७॥

और, जो ‘भोजनवत्’ कहा गया है, उससे चतुर्थ से अन्य चतुर्थ वहाँ पर कल्पित किया गया है ।

जगत्साम्नि सामाभावाद्वक्तः साम तदाख्यं स्यात् ॥५८॥

जगत्साम में जगती छन्दवाली ऋचाओं का सम्बन्ध होने से, ऋचा के आधार पर यह नाम पड़ा है, साम के आधार पर नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण सामवेद में जगत्संज्ञक साम का अभाव है ।

उभयसाम्नि नैमित्तिकं विकल्पेन समत्वात्स्यात् ॥५९॥

पूर्व०—उभय सामवाले ‘गोसव’ आदि क्रतुओं में जहाँ बृहत् और रथन्तर दोनों सामों का गान होता है, वहाँ नैमित्तिक होने से विकल्प है, क्योंकि दोनों साम हैं ।

मुख्येन वा नियम्यते ॥६०॥

अथवा, मुख्यत्व से नियम करना चाहिए ।

निमित्तविघाताद्वा क्रतुयुक्तस्य कर्म स्यात् ॥६१॥

सि०—निमित्त का विघात होने से कोई अन्य ही ऋचा क्रतु के आधार पर ली जाएगी ।

ऐन्द्रावायवस्याप्रवचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ॥६२॥

पूर्व०—अप्र वचन होने से ऐन्द्रावायव ग्रह=पात्र का सबसे पूर्व ग्रहण होना चाहिए ।

अपि वा धर्मविशेषात्तद्धर्माणां स्वस्थाने प्रतिकरणादप्रत्वमुच्यते ॥६३॥

सि०—ऐन्द्रावायव ग्रह विशेष धर्मवाले होने से उसी धर्म से पूर्णरूपेण युक्त है, अतः अप्रता का तात्पर्य है कि प्रकरणानुसार अपने स्थान में ही उनका अप्रत्व है । भाव यह है कि जहाँ मंत्रावरुण आदि ग्रह लिये जाते हैं, वहाँ ऐन्द्रावायव ग्रह उनसे पूर्व लिया जाएगा; ग्रह यथास्थान ही लेने चाहिए ।

धारासंयोगाच्च ॥६४॥

धाराग्रहों का संयोग होने से सर्व की अग्रता का विधान नहीं है, अतः सबके आदि में प्रतिकर्ष नहीं करना चाहिए ।

कामसंयोगे तु वचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ॥६५॥

पूर्व०—जहाँ काम = फल का संयोग होता है, वहाँ ग्रह का सर्व आदि में प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं ।

तद्देशानां वाऽग्रसंयोगात्तद्युक्ते कामशास्त्रं स्यान्नित्यसंयोगात् ॥६६॥

सि०—जहाँ 'अग्र' पद का सम्बन्ध उस-उस देश में स्थित ग्रहों के साथ है, वहाँ अग्रता का सम्बन्ध होने से स्वस्थान में फलबोधक विधि है, नित्य संयोग होने से । भाव यह है कि ग्रह का ग्रहण अपने नियत स्थान पर ही होगा ।

परेषु चाग्रशब्दः पूर्ववत् स्यात्तदादिषु ॥६७॥

पूर्व०—ऐन्द्रावायव आदि ग्रह में श्रूयमाण 'अग्र' शब्द पूर्व अधिकरण के समान होता है । जिस-जिसकी अग्रता श्रूयमाण होती है, तदग्रों का कामसंयोग होता है ।

प्रतिकर्षो वा नित्यार्थेनाग्रस्य तदसंयोगात् ॥६८॥

सि०—ऐन्द्रावायव से प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि नित्यार्थ से अग्रता का काम = फल से संयोग नहीं होता ।

प्रतिकर्षञ्च दर्शयति ॥६९॥

और, 'धारयेयुस्तं यं कामाय गृह्णीयुः' इत्यादि लिङ्गवाक्य भी प्रतिकर्ष के सूचक हैं ।

पुरस्तादेंद्रवायवाग्रस्य कृतदेशत्वात् ॥७०॥

अग्रता का स्थान निश्चित होने से आश्विन आदि ग्रहों का ऐन्द्रावायव ग्रहों से पूर्व प्रतिकर्ष होना चाहिए ।

तुल्यधर्मत्वान्च ॥७१॥

और, समानधर्मता होने से भी ऐन्द्रावायव ग्रह से पूर्व आश्विन आदि का ग्रहण करना योग्य है ।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥७२॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है ।

सादनं चापि शेषत्वात् ॥७३॥

आसादन (वेदि पर यथास्थान रखना) भी अपकृष्ट होता है, क्योंकि वे ग्रहण के शेष हैं ।

लिङ्गदर्शान्च ॥७४॥

आसादन के प्रतिकर्ष में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं ।

प्रदानं चापि सादनवत् ॥७५॥

पूर्व०—प्रदान (आहुति देने) में भी आसादन के समान प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध है ।

न वा प्रधानत्वाच्छेषत्वात्सादनं तथा ॥७६॥

सि०—नहीं। प्रदान मुख्य कर्म है, अतः आसादन के समान प्रतिकर्ष (अदल-बदल) नहीं होगा।

त्र्यनीकायां न्यायोक्तेष्वाम्नां गुणार्थं स्यात् ॥७७॥

पूर्व०—त्र्यनीक (द्वादशाह के पहले, पिछले और दसवें दिन को छोड़कर जो शेष नौ दिन हैं, उनका नाम त्र्यनीक है) में तीसरे दिन में अतिदेश शास्त्र से प्राप्त आग्रयणता न्याय्य है और पुनः कथन अर्थवाद = स्तुति के लिए है।

अपि वाऽहर्गणेष्वग्निवत्समानं विधानं स्यात् ॥७८॥

सि०—अहर्गणों में अग्निचयन के समान समान विधान है, अर्थवाद नहीं।

द्वादशाहस्य व्यूढसमूढत्वं पृष्ठवत्समानविधानं स्यात् ॥७९॥

पूर्व०—द्वादशाह पृष्ठ के समान व्यूढ और समूढरूप होने से समान विधान-वाला है।

व्यूढो वा लिङ्गदर्शनात्समूढविकारः स्यात् ॥८०॥

सि०—व्यूढ समूढ का विकार है। इस विषय में प्रमाण उपलब्ध होते हैं, अतः व्यूढ और समूढ दोनों समान विधानवाले नहीं हैं।

कामसंयोगात् ॥८१॥

काम का संयोग होने से व्यूढ समूढ का विकार है।

तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ॥८२॥

व्यूढ और समूढ दोनों प्रकार के द्वादशाहों की प्रवृत्ति अविशेषतया होती है, क्योंकि दोनों की एक कर्मता है।

एकदशनीवत् त्र्यनीका प्रवृत्तिः स्यात् ॥८३॥

पूर्व०—जैसे एकादशिन प्रकरण में आवृत्ति = अभ्यास है, उसी प्रकार त्र्यनीक में भी आवृत्ति है।

स्वस्थानविवृद्धिर्वाऽह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ॥८४॥

सि०—स्वस्थान-विवृद्धिरूप आवृत्ति है, क्योंकि दिवसों की संख्या अप्रत्यक्ष है।

पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्रयणस्य दर्शनात् त्र्यर्शत्रये परिवृत्तौ पुनरैन्द्रवायवः स्यात् ॥८५॥

और, पृष्ठ्य की आवृत्ति में तैत्तीस दिनों में अग्रता का दर्शन होता है, पुनः दण्ड-कलित आवृत्ति में ऐन्द्रावायव होता है, अतः स्वस्थान में विवृद्धि होती है।

वचनात्परिवृत्तिरैकादशिनेषु ॥८६॥

एकादशिन प्रकरण में जो दण्डकलित आवृत्ति होती है, वह प्रमाण उपलब्ध होने से युक्त है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८७॥

प्रमाण उपलब्ध होने से भी एकादशिन प्रकरण में दण्डकलित आवृत्ति स्वीकार करने योग्य है।

छन्दोव्यतिक्रमाद् व्यूढे भक्षपवमानपरिधिकपालमन्त्राणां
यथोत्पत्तिवचनसूहवत्स्यात् ॥८८॥

व्यूढसंज्ञक द्वादशाह याग में मुख्य छन्दों का व्यतिक्रम होने से भक्ष, पवमान, परिधि और कपाल के मन्त्रों का जैसा पाठक्रम है, उसी प्रकार बोले जाएँगे। मन्त्रों में अदल-बदल नहीं होगा; ऊह केवल छन्दों में होगा।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

षष्ठः पादः

एकसंस्थानानि यज्ञे स्युः स्वाध्यायवत् ॥१॥

पूर्व०—यज्ञ में रथन्तर आदि सामों का गान एक ही ऋचा में करना चाहिए, स्वाध्याय के समान।

तृचे वा लिङ्गदर्शनात् ॥२॥

सि०—यह गान एक ऋचा पर न होकर तीनों ऋचाओं पर होना चाहिए, लिङ्गबोधक प्रमाणों के उपलब्ध होने से।

स्वर्दृशं प्रति वीक्षणं कालमात्रं परार्थत्वात् ॥३॥

स्वर्दृक् शब्द के साथ वीक्षण का साक्षात् सम्बन्ध होता है, अन्यथा यह शब्द काल को लक्षित करता है, स्तुत्यर्थक होने से।

पृष्ठ्यस्य युगपद्विधरेकाहवद्विसामत्वम् ॥४॥

पूर्व०—पृष्ठस्तोत्र का एकसाथ विधान होने से एकाह के समान दोनों सामों का एक दिन में अनुष्ठान करना चाहिए।

विभक्ते वाऽसमस्तविधानात्तद्विभागेऽप्रतिषिद्धम् ॥५॥

पूर्व०—‘पृष्ठ्यः’ पद में द्वन्द्व समास का अभाव और बहुव्रीहि समास का विधान होने से विभाग में भी बृहत् और रथन्तर का प्रतिषेध नहीं होता अर्थात् किसी दिन बृहत् साम का गान हो, किसी दिन रथन्तर का।

समासस्त्वेकादशिनेषु तत्प्रकृतित्वात् ॥६॥

पूर्व०—प्रकृति = ज्योतिष्टोम में सम्पूर्ण एकादशियों का आलम्भ = दान होने से वहाँ पर समास होता है।

विहारप्रतिषेधाच्च ॥७॥

असमान अधिकरण का प्रतिषेध होने से अन्य दिनों में उन (पशुओं के आलम्भ) का प्रतिषेध किया जाता है और प्रायणीय में उनका आलम्भन होता है।

श्रुतितो वा लोकवद्विभागः स्यात् ॥८॥

सि०—द्वित्व (द्विवचनी) श्रुति होने से जैसे लोक में व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रायणीय और उदयनीय में विभाग होता है।

विहारप्रकृतित्वाच्च ॥६॥

श्रीर, विहार अर्थात् एक-एक पशु का दान प्रकृत है, इसलिए भी विभाग होना चाहिए ।

यावच्छक्यं तावद्विहारस्यानुग्रहीतव्यं विशये च तदासत्तेः ॥१०॥

जहाँ तक हो सके विहार-वाक्य का अनुसरण करना चाहिए । संशय होने पर मुख्य प्रमाण के आधार पर निर्णय करना चाहिए ।

त्रयस्तथेति चेत् ॥११॥

आक्षेप—यदि मुख्य वचन के आधार पर ही निर्णय होना है तो प्रायणीय में तीन ही पशुओं का आलम्बन—दान होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न समत्वात्प्रयाजवत् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, समान भाग होने से प्रयाज के समान । वस्तुतः साम्यत्व से ही प्रयाजवत् विभाग करना चाहिए ।

सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्तेषां स्यादेकदेशत्वं पृष्ठस्य कृतदेशत्वात् ॥१३॥

पूर्व०—सर्वपृष्ठ में पृष्ठ शब्द के होने से रथन्तर आदि सभी पृष्ठों का एकदेशत्व है, क्योंकि पृष्ठ का स्थान पूर्व से ही निश्चित है ।

विधेस्तु विप्रकर्षः स्यात् ॥१४॥

सि०—विधिवचन से देशभेद होता है ।

वैरूपसामा क्रतुसंयोगात् त्रिवृद्वेकसामा स्यात् ॥१५॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम याग की संस्था उक्थ्य में एक वैरूप साम होना चाहिए, क्योंकि साम का समग्र क्रतु के साथ सम्बन्ध है । जैसे त्रिवृत् अग्निष्टोम समग्र क्रतु में त्रिवृत्स्तोम है, उसी प्रकार उक्थ्य में भी एक साम होना चाहिए ।

पृष्ठार्थे वा प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ॥१६॥

सि०—पृष्ठकार्य में ही वैरूप साम का निवेश है, प्रकृतिलिङ्ग के संयोग से ।

त्रिवृद्वदिति चेत् ॥१७॥

आक्षेप—जैसे त्रिवृदग्निष्टोम में समग्र क्रतु में त्रिवृत्त्व का निवेश होता है, वैसे ही यहाँ भी होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रकृतावकृत्स्नसंयोगात् ॥१८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं । प्रकृति में सम्पूर्ण क्रतु के साथ सम्बन्ध न होने से त्रिवृत्त्व नहीं है ।

विधित्वान्नेति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—जैसे धेनुविधि में क्रतु के साथ सम्बन्ध है, वैसे ही यहाँ भी क्रतु के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्कर्माविभागात् ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं । यह विधि धेनु के समान नहीं है । संशय की स्थिति में वह न्याय्य है, क्योंकि कर्मों का अभेद है ।

प्रकृतेश्चाविकारात् ॥२१॥

और, प्रकृति—ज्योतिष्टोम का विकार न होने से भी सामों का कृत्स्न—सम्पूर्ण ऋतु संयोग नहीं है।

त्रिवृति संख्यात्वेन सर्वसंख्याविकारः स्यात् ॥२२॥

पूर्व०—त्रिवृदग्निष्टोम में त्रिवृत्—त्रैगुण्यरूप संख्या का विधान होने से हर वस्तु को तिगुना करना चाहिए, क्योंकि संख्यात्व सामान्य से सर्वसंख्या का विकार है।

स्तोमस्य वा तल्लिङ्गत्वात् ॥२३॥

सि०—त्रिवृदग्निष्टोम में केवल स्तोमों को ही त्रिवृत्—तिगुना करना पड़ता है। प्रमाणों से भी यही बात सिद्ध होती है।

उभयसाम्नि विश्वजिद्विभागः स्यात् ॥२४॥

पूर्व०—उभय सामवाले याग में विश्वजित् याग के समान विभाग होता है।

पृष्ठार्थं वाऽतदर्थत्वात् ॥२५॥

सि०—पृष्ठार्थ में दोनों का विनियोग है, अतः उनका विभाग न होकर समुच्चय है, क्योंकि उन दोनों का और कोई प्रयोजन नहीं है।

लिङ्गदर्शान्त्व ॥२६॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि उभय सामवाले याग में रथन्तर और बृहत् दोनों सामों का समुच्चय है।

पृष्ठे रसभोजनमावृत्तेसंस्थिते त्रयस्त्रिंशोऽह्नि स्यात्तदानन्तर्यात् प्रकृतिवत् ॥२७॥

पूर्व०—पृष्ठ में रसभोजन—घी या मधु का भक्षण विपरीत क्रम से करना चाहिए प्रकृतियाग के समान, त्रयस्त्रिंशत् (तेतीसवें) अह्न के संस्थित होने पर, क्योंकि इन दोनों में आनन्तर्य है।

अन्ते वा कृतकालत्वात् ॥२८॥

सि०—मधु या घृत-भक्षण षडह के अन्त में होगा, क्योंकि इसका समय निर्धारित है।

अभ्यासे च तदभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ॥२९॥

पूर्व०—षडहरूप कर्म के पुनः-पुनः प्रयोग से षडह की आवृत्ति होने पर रस-भोजन की भी आवृत्ति होती है।

अन्ते वा कृतकालत्वात् ॥३०॥

सि०—कई षडह होने पर रसभोजन अन्तिम षडह के पश्चात् ही होगा, प्रत्येक षडह के पश्चात् नहीं, क्योंकि इसके लिए समय का निर्धारण किया हुआ है।

आवृत्तिस्तु व्यवाये कालभेदात् ॥३१॥

व्यवधान होने पर कालभेद से आवृत्ति होती है। भाव यह है कि गवामयन यज्ञ में भक्ष प्रत्येक मास के अन्त में होना चाहिए।

मधु न दीक्षिता ब्रह्मचारित्वात् ॥३२॥

पूर्व०—सत्री लोग दीक्षित होते हैं। दीक्षित अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करने से उन्हें मधु का भक्षण नहीं करना चाहिए।

प्राश्येत वा यज्ञार्थत्वात् ॥३३॥

सि०—यज्ञ में विशेष विधान होने से सत्री लोगों को मधु-भक्षण करना चाहिए ।
(जहाँ मधु का निषेध है, वहाँ मधु का अर्थ है शराब, परन्तु यहाँ मधु का अर्थ है शहद ।)

मानसमहरन्तरं स्याद् द्वादशाहे व्यपदेशात् ॥३४॥

पूर्व०—भेद-व्यपदेश होने से 'मानसग्रह' द्वादशाह के पश्चात् होना चाहिए ।

तेन च संस्तवात् ॥३५॥

द्वादशाह 'मानस' के द्वारा स्तुत होता है, इस स्तवन से भी भेद का ज्ञान होता है ।

अहरन्ताच्च परेण चोदना ॥३६॥

और, 'मानसग्रह' का विधान द्वादशाह के पश्चात् होने से 'मानस' द्वादशाह से भिन्न दिवस का अङ्ग है ।

पक्षे संख्या सहस्रवत् ॥३७॥

यदि तेरह दिन माने जाएँ तो बारह की संख्या का बाध होता है, यदि ऐसा कहा जाए तो द्वादश संख्या सहस्र संख्या (सहस्र संख्या हजार से अधिक के लिए भी प्रयुक्त होती है) के समान अधिक में भी प्रयुक्त होती है ।

अहरङ्गं वांशुवच्चोदनाभावात् ॥३८॥

सि०—पृथक् विधान न होने से 'मानसग्रह' पृथक् कर्म नहीं है, अपितु द्वादशाह के दसवें दिन का अङ्ग है, सोमयाग में होनेवाले अंशुग्रह के समान ।

दशमविसर्गवचनाच्च ॥३९॥

दशम विसर्ग-वचन से भी यही सिद्ध होता है कि 'मानसग्रह' दशम दिवस का अङ्ग है ।

दशमेऽहनीति च तद्गुणशास्त्रात् ॥४०॥

'दशमे अहनि' इस वाक्य से भी 'मानसग्रह' दसवें दिन का अङ्ग है ।

संख्यासामञ्जस्यात् ॥४१॥

'मानसग्रह' को दसवें दिवस का अङ्ग मानने पर संख्या का भी सामञ्जस्य हो जाता है ।

पदवतिरेके चकस्य भावात् ॥४२॥

पशुओं के दान में एक के अतिरेक (बढ़ाने) से भी यही सिद्ध होता है कि 'मानस-ग्रह' अङ्ग है, कर्मान्तर नहीं है ।

स्तुतिव्यपदेशमङ्गेनाविप्रतिषिद्धं व्रतवत् ॥४३॥

स्तुति का व्यपदेश व्रत की भाँति विप्रतिषिद्ध नहीं होता, क्योंकि अङ्ग से अङ्गी की स्तुति होती है ।

वचनादतदन्तत्वम् ॥४४॥

वचन से तदनन्तता नहीं होती, अतः 'मानसग्रह' अङ्ग है, स्वतन्त्र कर्म नहीं । पत्नीसंयाज के पश्चात् 'मानसग्रह' का ग्रहण किया जाता है ।

सत्रमेकः प्रकृतिवत् ॥४५॥

पूर्व०—सत्र में एक ही कर्ता = यजमान होता है, जैसे प्रकृति = ज्योतिष्टोम में एक ही यजमान होता है ।

बहुवचनात् बहूनां स्यात् ॥४६॥

सि०—बहुवचन का प्रयोग होने से सत्र बहुतों द्वारा होना चाहिए, एक का बाध है ।

अपदेशः स्यादिति चेत् ॥४७॥

आक्षेप—केवल क्रिया का सम्बन्ध होने से बहुवचन का प्रयोग है, यदि ऐसा कही तो—

नेकव्यपदेशात् ॥४८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, एक का व्यपदेश (दूसरे के साथ सम्बन्ध) होने से ।

सन्निवापं च दर्शयति ॥४९॥

सन्निवाप का प्रयोग भी सत्र को बहुकर्तृक सिद्ध करता है ।

बहूनामिति चैकस्मिन्विशेषवचने ध्यर्थम् ॥५०॥

यदि केवल एक ही यजमान माना जाए तो बहुवचन का निर्देश निरर्थक हो जाएगा, अतः सत्र में एक नहीं, अनेक यजमान होते हैं, गृहपति उनमें सर्वश्रेष्ठ होता है ।

अन्ये स्युर्ऋत्विजः प्रकृतिवत् ॥५१॥

पूर्व०—सत्र में प्रकृति = ज्योतिष्टोम की भांति ऋत्विज यजमान से भिन्न होने चाहिए ।

अपि वा यजमानाः स्युर्ऋत्विजामभिधानसंयोगात्तेषां स्याद्यजमानत्वम् ॥५२॥

सि०—यजमान ही ऋत्विज होते हैं, ऋत्विजों का नाम के साथ सम्बन्ध होने से उनका यजमानत्व है ।

कर्तृसंस्कारो वचनादाघातवदिति चेत् ॥५३॥

आक्षेप—वचन-सामर्थ्य से इन सबकी दीक्षा-संस्कार का विधान है, जैसा आधान में होता है, यदि ऐसा कही तो—

स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्प्रकृतिवत् ॥५४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं । संशय उत्पन्न होने पर यजमान ही ऋत्विज होते हैं, यही न्याय्य है, प्रकृति के समान ।

स्वाम्याख्याः स्युर्गृहपतिवदिति चेत् ॥५५॥

आक्षेप—अध्वर्यु आदि शब्दों को भी गृहपति शब्द के समान यजमान का वाचक मानना चाहिए, यदि ऐसा कही तो—

न प्रसिद्धग्रहणत्वादसंयुक्तस्य तद्धर्मण ॥५६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रसिद्ध है, उसी का ग्रहण किया जाता

है। अष्टव्युं आदि से यजमान का ग्रहण नहीं हो सकता। ऋत्विक् धर्म से असंयुक्त—
असम्बद्ध स्वामी की ही गृहपति आख्या (नाम) है।

बहूनामिति तुल्येषु विशेषवचनं नोपपद्यते ॥१७॥

बहुत यजमानों में जो गृहपति होता है, सत्रकर्ता कहलाता है, केवल यजमानों में विशेष वचन उपपन्न नहीं होता।

दीक्षिताऽदीक्षितव्यपदेशश्च नोपपद्यतेऽर्थयोर्नित्यभावित्वात् ॥१८॥

सत्र में दीक्षित और अदीक्षित का व्यवहार भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि वहाँ अर्थ (दीक्षित और अदीक्षित) का नित्य भाव है, अतः सत्र में सब कार्य यजमान द्वारा ही होते हैं।

अदक्षिणत्वाच्च ॥१९॥

सत्र में दक्षिणा भी नहीं दी जाती, क्योंकि वे स्वयं ही यज्ञ के स्वामी होते हैं। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि सत्र यजमान द्वारा ही सम्पन्न होता है।

द्वादशाहस्य सत्रत्वमासतोपायिचोदनेन यजमानबहुत्वेन च

सत्रशब्दाभिसंयोगात् ॥२०॥

द्वादशाह सत्र भी होते हैं और अहीन भी। वे द्वादशाह सत्र हैं जिनमें 'आस' बैठने और 'उष-+इ' कार्य आरम्भ करने आदि शब्द का प्रयोग होता है और जिसमें नियमानुसार सत्रह से कम और चौबीस से अधिक यजमान नहीं होते।

यजतिचोदनादहीनत्वं स्वामिनां चाऽस्थितपरिमाणत्वात् ॥२१॥

वे द्वादशाह अहीन कहलाते हैं जिनमें 'यजति' वातु का प्रयोग हो और यजमानों की संख्या निश्चित नहीं होती।

अहीने दक्षिणाशास्त्रं गुणत्वात् प्रत्यहं कर्मभेदः स्यात् ॥२२॥

पूर्व०—पौण्डरीक अहीन में जो दक्षिणा का विधान है, वह प्रतिदिन भिन्न-भिन्न होता है, क्योंकि वहाँ दक्षिणा गौण है और प्रतिदिन के कर्म में भी भिन्नता होती है।

सर्वस्य वैकर्म्यात् ॥२३॥

आक्षेप—पौण्डरीक याग ग्यारह दिन का एक कर्म है, अतः याग पूर्ण होने पर एक ही बार दक्षिणा देनी चाहिए।

पृषदाज्यवद्वाऽह्नां गुणशास्त्रं स्यात् ॥२४॥

समा०—'एक ही बार दक्षिणा देनी चाहिए'—ऐसा कहना ठीक नहीं। प्रतिदिन की दक्षिणाओं में भेद हो सकता है, पृषदाज्य के समान, क्योंकि यहाँ अह्न—दिन प्रधान है और दक्षिणा गौण है, अतः प्रतिदिन दक्षिणा की आवृत्ति हो सकती है।

ज्योतिष्टोम्यस्तु दक्षिणाः सर्वासामेककर्मत्वात्प्रकृतित्वत् तस्मात्तासां

विकारः स्यात् ॥२५॥

आक्षेप—अहीन-याग विकार है, सम्पूर्ण कार्य के एक होने से। ज्योतिष्टोम की दक्षिणा भी एक होती है, प्रकृति के समान, अतः पौण्डरीक में भी दक्षिणा एक ही बार दी जानी चाहिए।

द्वादशाहे तु वचनात्प्रत्यहं दक्षिणाभेदस्तत्प्रकृतित्वात्परेषु तासां
संख्याविकारः स्यात् ॥६६॥

समा०—द्वादशाह याग में प्रत्यक्ष वचन होने से प्रतिदिन अलग-अलग दक्षिणा दी जाती है। पौण्डरीक आदि याग भी द्वादशाह की प्रकृतिवाला है, अतः वहाँ भी कर्म के अनुसार दक्षिणा में भेद हो जाएगा।

परिक्रयाविभागाद्वा समस्तस्य विकारः स्यात् ॥६७॥

सि०—परिक्रया में विभाग न होने से समस्त का विकार होता है अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए ऋत्विक् का स्वीकार होता है, अतः दक्षिणा एक ही होनी चाहिए।

भेदस्तु गुणसंयोगात् ॥६८॥

द्वादशाह में जो भेद कथन है वह तो गुण (सुत्या-सम्बन्ध) के कारण है। पौण्डरीक याग में ऐसा कोई कथन नहीं है, अतः वहाँ दक्षिणा एक बार ही दी जाती है।

प्रत्यहं सर्वसंस्कारः प्रकृतिवत् सर्वासां सर्वशेषत्वात् ॥६९॥

पूर्व०—जैसे प्रकृति में समस्त दक्षिणा का संस्कार उसी समय हो जाता है, उसी प्रकार पौण्डरीक याग में भी करना चाहिए, क्योंकि यहाँ अर्हो—दिनों की प्रधानता है और दक्षिणा गौण है, अतः प्रतिदिन सारी दक्षिणा ले जानी चाहिए।

एकार्थत्वान्नेति चेत् ॥७०॥

आक्षेप—दक्षिणाओं का एकार्थत्व होने से प्रतिदिन उनके नयन (ले जाने) रूप संस्कार की आवश्यकता नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

उत्पत्तौ कालभेदात् ॥७१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। दक्षिणाओं की उत्पत्ति में विशिष्ट काल का सम्बन्ध श्रूयमाण होता है, अतः भेद से ही संस्कार होना चाहिए, प्रतिदिन दक्षिणा ले जानी चाहिए।

विभज्य तु संस्कारवचनाद्द्वादशाहवत् ॥७२॥

सि०—पौण्डरीक याग का प्रकृतियाग है द्वादशाह, न कि ज्योतिष्टोम—ऐसा वचन है, अतः द्वादशाह के समान विभाग करके ही दक्षिणा ले जानी चाहिए।

लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे सर्वत्र प्रत्ययः साल्लिङ्गस्य सर्वगामित्वात् ॥७३॥

पूर्व०—लिङ्गवाक्य के द्वारा शब्द का निर्देश होने पर लिङ्गलक्षित सभी मानवी—मनु-सम्बन्धी ऋचाओं का बोध होता है, आग्नेय की भाँति लिङ्गवाक्य के सर्व-गामी होने से।

यावदर्थं वाऽर्थशेषत्वादतोऽर्थेन परिमाणं स्यात्तस्मिन्न

लिङ्गसामर्थ्यम् ॥७४॥

सि०—जितनी मानवीय ऋचाओं से कार्यसिद्धि होती है, उतनी ऋचाओं का ग्रहण करना चाहिए, सबका नहीं। अर्थशेष होने से सामिधेनियों का ही उपादान होता है, उन्हीं में लिङ्गवाक्य का सामर्थ्य है।

प्राग्नेये कृत्स्नविधिः ॥७५॥

प्राग्नेय सूक्त में सम्पूर्ण मन्त्रों के अङ्गत्व का विधान है ।

ऋजीषस्य प्रधानत्वावहर्गणे सर्वस्य प्रतिपत्तिः स्यात् ॥७६॥

ऋजीष के प्रधान होने से द्वादशरात्र आदि में सबकी प्रतिपत्ति—प्राप्ति होती है ।

वाससि मानोपावहरणे प्रकृतौ सोमस्य वचनात् ॥७७॥

प्रकृति—ज्योतिष्टोम में सोम का मान—तोलना और उपावरण—बटोरना एक ही वस्त्र में हो जाता है, वचन के सामर्थ्य से । (प्रकृतियाग में जिस कपड़े पर तोलते हैं, उसी से बटोर भी लेते हैं, क्योंकि प्रकृतियाग एक ही दिन में समाप्त हो जाता है ।)

तत्राहर्गणेश्चार्थाद्वा सः प्रकृतिः स्यात् ॥७८॥

परन्तु द्वादशाह अहर्गण में (जो कई दिन चलते हैं) अर्थापत्ति से उपावहरण के लिए नया वस्त्र लाना चाहिए ।

मानं पत्युत्पादयेत्प्रकृतौ तेन दर्शनादुपावहरणस्य ॥७९॥

पूर्व०—प्रकृति में उपावहरण के श्रवण से मान—तोलने के उद्देश्य से दूसरा वस्त्र लेना चाहिए ।

हरणे वा श्रुत्यसंयोगादर्थद्विकृतौ तेन ॥८०॥

सि०—सोम के उपावहरण के लिए ही अन्य वस्त्र की आवश्यकता होती है, क्योंकि यह भिन्न वस्त्र से किया जाता है । मान के लिए श्रुति में भिन्न वस्त्र के लिए निर्देश नहीं है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तमः पादः

पशावेकहविष्वं समस्तचोदितत्वात् ॥१॥

पूर्व०—अग्निषोम पशु में (सम्पूर्ण पशु घी, दूध आदि का साधन होने से) एक हवि की कल्पना होती है, समस्तरूप विधि पाये जाने से ।

प्रत्यङ्गं वा ग्रहवदङ्गानां पृथक्कल्पनत्वात् ॥२॥

सि०—अङ्गों की पृथक् कल्पना होने से प्रत्येक अङ्ग में हवि का भेद होता है, ग्रह—पात्र के समान । (अङ्गरूप घृत आदि भी हवि के साधन हैं ।)

हविर्भेदात्कर्मणोऽभ्यासस्तस्मात्तेभ्योऽवदानं स्यात् ॥३॥

पूर्व०—प्रत्येक अङ्ग पृथक् हवि है, अतः कर्म का भी अभ्यास होना चाहिए और इस प्रकार सब अवयवों (दूध, दही, घृत) आदि से आहुतियाँ दी जानी चाहिए ।

आज्यभागाद्वा निर्देशात्परिसंख्या स्यात् ॥४॥

आक्षेप—जैसे गृहमेधीय में पञ्चम पक्ष में आज्यभाग का निर्देश है, वैसे ही यहाँ भी परिसंख्यार्थ सबका ग्रहण होता है ।

तेषां वा द्व्यवदानत्वं विवक्षन्नभिनिदिशेत्यशोः पञ्चावदानत्वात् ॥१॥

समा०—पशु के घी, दूध आदि पाँच अवदान—अवयव श्रूयमाण होते हैं, उनमें से दो अवदानों की विवक्षा करते हुए उनका निर्देश किया जाता है।

अंसशिरोनूकसक्थिप्रतिषेधश्च तदन्यपरिसंख्यानेजन्यकः स्यात् प्रदानत्वात्तेषां
निरवदानप्रतिषेधः स्यात् ॥६॥

पूर्व०—अंस, शिर, अनूकादि के प्रतिषेध से परिसंख्या नहीं होती। उनके निरवदान का प्रतिषेध किया जाता है, अतः यह सिद्ध है कि सभी अङ्गों द्वारा इज्या की जाती है।

अपि वा परिसंख्या स्यादनवदानीयशब्दत्वात् ॥७॥

सि०—अवदान विधिवाक्य के द्वारा होमार्थ को प्राप्त करता है, अतः अवदानीय शब्द होने से पक्षान्तर में परिसंख्या हो सकती है।

अब्राह्मणे च दर्शनात् ॥८॥

यागविशेष में ब्राह्मण से भिन्न के लिए अवशिष्ट हवि का भक्षण विहित है।

शूताशूतोपदेशाच्च तेषामुत्सर्गवदयज्ञशेषत्वं सर्वेषां

न श्रपणं स्यात् ॥९॥

अग्निपक्व और अनग्निपक्व का उपदेश होने से भी परिसंख्या में उत्सर्गवत् अयज्ञ-शेषत्व होता है।

इज्याशेषास्त्विष्टकृद्विज्येत प्रकृतिवत् ॥१०॥

पूर्व०—इज्या के शेषभूत में से स्विष्टकृत् होम करना चाहिए, जैसे प्रकृतियाग में होता है।

अङ्गं वा शरवद्विकारः स्यात् ॥११॥

सि०—तीन अङ्गों (पक्व, अपक्व और घृत) से स्विष्टकृत् होम करना चाहिए; जैसे शर नामक घास के विधान से कुशाओं का बाध होता है, वैसे ही केवल एक अङ्ग से स्विष्टकृत् होम नहीं करना चाहिए।

अध्युष्णी होतुश्च्यङ्गवदिडावविकारः स्यात् ॥१२॥

अध्युष्णी में होता के 'इडा' नामक भक्ष की कल्पना करनी चाहिए, अ्यङ्गवत्—तीन अङ्गों के समान।

शेषे वा समवेति तस्माद्रथवन्नियमः स्यात् ॥१३॥

पूर्व०—'रथ' की भाँति यहाँ भी होतृभाग में नियम होता है। यदि अध्युष्णी अपूर्वा होती है तो वही इडा में होती है।

अशास्त्रत्वात्तु नैवं स्यात् ॥१४॥

सि०—इडा नामक भक्ष की अध्युष्णी में कल्पना करना अशास्त्रीय है।

अपि वा दानमात्रं स्याद्भक्षशब्दानभिसम्बन्धात् ॥१५॥

पूर्व०—भक्ष शब्द के साथ संयोग न होने से यह दान-मात्र है, इडा भक्षविकार नहीं है।

दानुस्त्वविद्यमानत्वादिडाभक्षविकारः स्याच्छेषं प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१६॥

सि०—दाता के विद्यमान न होने से यह दान नहीं है। इडा के भक्ष का विकार ही होता है, शेष के प्रति समानता (जैसा यजमान है वैसा ही होता) होने से।

अग्नीधश्च वनिष्ठुरध्यूघ्नीवत् ॥१७॥

अध्यूघ्नी के समान वनिष्ठु भी अग्नीध ऋत्विक् के लिए होता है।

अप्राकृतत्वान्मंत्रावरुणस्याभक्षत्वम् ॥१८॥

पूर्व०—प्रकृति में विधान न होने से मंत्रावरुण नामक ऋत्विज के लिए हविशेष अभक्ष है।

स्याद्वा होत्रध्वर्युविकारत्वात्तयोः कर्माभिसम्बन्धात् ॥१९॥

सि०—मंत्रावरुण नामक ऋत्विज के लिए शेष हवि भक्ष है। मंत्रावरुण नामक ऋत्विज होता और अध्वर्यु का प्रतिनिधि है, उनके कर्मों के साथ सम्बन्ध होने से, अतः उसे भक्षत्व प्राप्त होता है।

द्विभागः स्याद्द्विकर्मत्वात् ॥२०॥

पूर्व०—होता और अध्वर्यु—दोनों का कार्य सम्पादन करने से मंत्रावरुण नामक ऋत्विज को दो भाग मिलने चाहिए।

एकत्राद्वैकभागः स्याद् भागस्याश्रुतिभूतत्वात् ॥२१॥

सि०—दो भाग का कथन श्रूयमाण नहीं है, अतः एक ही भाग होना चाहिए, कर्म-निमित्तक लक्षण एक होने से।

प्रतिप्रस्थातुश्च वपाश्रपणात् ॥२२॥

पूर्व०—वपाश्रपण की भावना करने के कारण प्रतिप्रस्थाता नामक अध्वर्यु को भी हविःशेष का भक्षण होना चाहिए।

अभक्षो वा कर्मभेदात्तस्याः सर्वप्रदानत्वात् ॥२३॥

सि०—प्रतिप्रस्थाता के भक्षण का विधान नहीं है, क्योंकि कर्म में भेद है और सर्वप्रदान होने से शेष रहता ही नहीं है।

विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात्पुनः श्रुतिरनर्थकं स्यात् ॥२४॥

पूर्व०—गृहमेधीय प्रकरण में दशपूर्णमास की विधि का पुनः ग्रहण होने से श्रुति-वचन निरर्थक हो जाता है।

अपि वाऽऽग्नेयवद्द्विशब्दत्वं स्यात् ॥२५॥

अथवा, आग्नेय की भाँति दो वचनों से एक ही कर्म का विधान है।

न वा शब्दपृथक्त्वात् ॥२६॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं। दृष्टान्त (अग्निमग्न आवह) में अग्नि शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों का सूचक है।

अधिकं वाऽर्थवत्त्वात् स्यादर्थवादगुणाभावे वचनादविकारे तेषु हि तादर्थ्यं

स्यादपूर्वत्वात् ॥२७॥

अथवा, शास्त्रवचन अधिक—विशिष्ट अर्थ का बोधक है, क्योंकि 'आज्यभागो

यजति'—यह वाक्य अर्थवाद, गुणवाद और प्राकृत धर्मों का प्रापक न होने से अपूर्व विधान है।

प्रतिषेधः स्यादिति चेत् ॥२८॥

ब्राह्मण—'ब्राह्मणभागी यजति' से अतिरिक्त कर्म करने का निषेध है, यदि ऐसा कही तो—

नाश्रुतत्वात् ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कोई भी प्रतिषेधवचन श्रूयमाण नहीं होता।

अग्रहणादिति चेत् ॥३०॥

ब्राह्मण—अतिदेश से ब्राह्मणभागों का ग्रहण नहीं है, यदि ऐसा कही तो—

न तुल्यत्वात् ॥३१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सभी ब्रह्म समान हैं।

तथा तद्ग्रहणे स्यात् ॥३२॥

ऐसा मानने पर अतिदेश से ब्राह्मणभाग के ग्रहण करने का भी निषेध हो जाएगा।

अपूर्वतां तु दशमेद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वात् ॥३३॥

सि०—ग्रहण की अर्थवत्ता होने से गृहमेधीय अपूर्व अर्थ का प्रतिपादक है।

ततोऽपि यावदुषत् स्यात् ॥३४॥

गृहमेधीय प्रकरण में स्वष्टकृत आदि जिस-जिसका प्रत्यक्ष वचन है, उन सबका अनुष्ठान होता है।

स्वष्टकृति भक्षणप्रतिषेधः स्यात्तुल्यकारणत्वात् ॥३५॥

गृहमेधीय प्रकरण में प्राशिन्नादि ऋत्विजों के लिए हविःशेष के भक्षण का प्रतिषेध है, तुल्य कारण होने से।

अप्रतिषेधो वा दर्शनादिडायां स्यात् ॥३६॥

पूर्व०—प्रतिषेध नहीं है, क्योंकि 'इडा' नामक हवि में भक्षण का श्रवण है।

प्रतिषेधो वा विधिपूर्वस्य दर्शनात् ॥३७॥

सि०—प्रतिषेध है, क्योंकि जो दर्शन=विधान कहा गया है, वह विधिपूर्वक भक्षण का ही होगा।

शंखिडान्तत्वे विकल्पः स्यात् परेषु पत्न्यनुयाजप्रतिषेधोजन्यकः स्यात् ॥३८॥

पूर्व०—प्रायणीय और आतिथ्य इष्टियों में शंयुवाक और इडान्त भक्षण के पीछे जो कर्म की समाप्ति है, उसमें विकल्प होना चाहिए, अन्यथा पत्न्यनुयाज का प्रतिषेध निरर्थक हो जाएगा।

नित्यानुवादो वा कर्मणः स्यादशब्दत्वात् ॥३९॥

सि०—शंयुवाक के पश्चात् कर्म करने का कोई प्रमाण न होने से केवल अर्थ-वाद है।

प्रतिषेधवच्चोत्तरस्य परस्तात्प्रतिषेधः स्यात् ॥४०॥

पूर्व०—उत्तर के प्रतिषेध के सार्थक होने से पीछे के कर्मों का प्रतिषेध होता है।

प्राप्तेर्वा पूर्वस्य वचनावतिक्रमः स्यात् ॥४१॥

सि०—प्रथम शंयुवाक की प्रथम प्राप्ति है वचन से, अन्यथा शास्त्र का अतिक्रम हो जाएगा।

प्रतिषेधस्य त्वरायुक्तत्वात्तस्य च नान्यदेशत्वम् ॥४२॥

प्रतिषेध अनुष्ठान कर्म में 'त्वरा' शब्द का विधान होने से शंयुवाक का अन्यदेशत्व नहीं है।

उपसत्सु यावदुक्तमकर्म स्यात् ॥४३॥

पूर्व०—उपसद-कर्मों में जितना कहा गया है उतना ही नहीं करना चाहिए, अपितु अतिदेशशास्त्र से प्राप्त अवशिष्ट सब करना चाहिए।

स्त्रौवेण वाङ्गुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ॥४४॥

स्त्रौव (स्त्रौवेण आधारमाधारयति) वाक्य से आधार का विधान है, वही करना चाहिए, गौण होने से अवशिष्ट का प्रतिषेध है।

अप्रतिषेधो वा प्रतिषिध्य प्रतिप्रसववत् ॥४५॥

वस्तुतः प्रतिषेध नहीं है, यह तो प्रतिप्रसव—निषेध का निषेध है।

अनिज्या वा शेषस्य मुख्यदेवतानभोज्यत्वात् ॥४६॥

सि०—प्राकृत शेषहोम नहीं करना चाहिए, क्योंकि मुख्य देवता, जिसको आहुतियाँ प्रदान करनी हैं, एक (अग्नि) ही है।

अवमृथेर्बाह्वः प्रतिषेधाच्छेषकर्म स्यात् ॥४७॥

पूर्व०—अवमृथ में बाह्वि का निषेध होने से शेष समस्त कर्म करने चाहिए।

आज्यभागयोर्वगुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ॥४८॥

अथवा, आज्यभागों के गौण होने से अवशिष्ट कर्मों का प्रतिषेध होता है।

प्रयाजानां त्वेकदेशप्रतिषेधादवाक्यशेषत्वं तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥४९॥

प्रयाजों में एकदेश (बहियाग) के प्रतिषेध से वाक्यशेषत्व नहीं होता, (शेष अज्जों की प्राप्ति नहीं होती) अतः अतिदेशशास्त्र से प्राप्त 'आज्यभागो यजति' यह नित्यानुवाद है।

आज्यभागयोर्ग्रहणं नित्यानुवादो वा गृहमेधीयवत्स्यात् ॥५०॥

सि०—आज्यभागों का ग्रहण नित्यानुवाद—अर्थानुवाद नहीं, गृहमेधीय की भाँति यह अपूर्व अवमृथ है।

विरोधिनामेकश्रुतौ नियमः स्याद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाच्छरवच्च श्रुतितो

विशिष्टत्वात् ॥५१॥

विरोधियों में किसी एक पदार्थ के श्रूयमाण होने पर नियम-विधि होती है तभी ग्रहणशास्त्र अर्थवाला होता है, अन्यथा प्राप्त अनुवादमात्र अनर्थक हो जाएगा। पक्षश्रुति प्रबल होने से यहाँ पर 'शर' के समान होता है।

उभयप्रदेशादिति चेत् ॥५२॥

आक्षेप—दोनों (खदिर और पलाश) का अतिदेश होने से नियम नहीं है, यदि ऐसा कहे तो—

शरेष्वपीति चेत् ॥५३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। यदि दोनों का अतिदेश माना जाए तो शरों में भी कुश का निवर्तन नहीं होगा।

विरोध्यग्रहणात्तथा शरेष्विति चेत् ॥५४॥

आक्षेप—विरोधी पदार्थों के ग्रहण न होने से शरों में भी ऐसा ही मानना पड़ेगा, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥५५॥

समा०—इस भाँति इतर खदिर आदि में भी मानना पड़ेगा।

श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत् ॥५६॥

आक्षेप—ऐसा मानने पर श्रुति निरर्थक हो जाएगी, यदि ऐसा कहो तो—

ग्रहणस्यार्थवत्त्वादुभयोरप्रतिपत्तिः स्यात् ॥५७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। ग्रहणशास्त्र प्रयोजनवाला होने से दोनों की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः खदिर पलाश का निवर्तक है।

सर्वासाञ्च गुणानामर्थवत्त्वाद् ग्रहणमप्रवृत्ते स्यात् ॥५८॥

सर्वं कामेष्टि-सम्बन्धी विधियों की और गुणों की अर्थवत्ता होने से अतिदेशशास्त्र से प्राप्त द्रव्य देवता में आकांक्षा न होने से कामेष्टि में विकृति में कहे द्रव्यदेवता का ग्रहण होता है। इस प्रकार प्राकृत द्रव्यदेवता के साथ विकृति द्रव्यदेवता का विकल्प तथा समुच्चय नहीं है।

अधिकं स्यादिति चेत् ॥५९॥

आक्षेप—समुच्चय अथवा विकल्प होता है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थाभावात् ॥६०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ आकांक्षा नहीं है।

तथैकार्थविकारे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः प्रवृत्तौ हि विकल्पः स्यात् ॥६१॥

सि०—एक फलवाले खदिर और उदुम्बर द्रव्यविधि में प्राकृत खदिर की अप्रवृत्ति है, क्योंकि प्रवृत्ति होने पर विकल्प मानना पड़ेगा।

यावत् श्रुतीति चेत् ॥६२॥

आक्षेप—जितना विधान है उतना ही करना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रकृतावशब्दत्वात् ॥६३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रकृति और विकृति में कहे दोनों पदार्थों का ग्रहण करना शास्त्रविहित नहीं है।

विकृतौ त्वनियमः स्यात्पृषदाज्यवद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वादुभयोश्च प्रदिष्टत्वाद्

गुणशास्त्रं यदेति स्यात् ॥६४॥

पूर्व०—विकृति में विरोधियों में से किसी एक के ग्रहण का नियम नहीं है क्योंकि ग्रहण गौण है, पृषदाज्य के समान। दोनों के उपदिष्ट होने से जब ब्रीहिरूप गुण-विधायक शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, तभी यवशास्त्र की प्रवृत्ति का बाध होता है, अतः यव=जौ और ब्रीहि=चावल का विकल्प है।

एकार्थाद्वा नियम्येत श्रुतितो विशिष्टत्वात् ॥६५॥

सि०—(त्रीहि और यव का) एक प्रयोजन होने से नियम-विधि है, किन्तु त्रीहियों को श्रुतिविशिष्टता हो जाने से यवों की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि आनुमानिक यवशास्त्र से श्रुति बलवती है।

विरोधित्वाच्च लोकवत् ॥६६॥

और, परस्पर विरोधियों में कभी सहप्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह बात लोकव्यवहार से भी सिद्ध है।

ऋतोश्च तद्गुणत्वात् ॥६७॥

तथा, ऋतु का सम्बन्ध शुक्ल और कृष्ण त्रीहि के साथ होने से त्रीहि से ही याग करना चाहिए, यह सिद्ध होता है।

विरोधिनाञ्च तत् श्रुतावशब्दत्वाद्विकल्पः स्यात् ॥६८॥

विरोधियों में से किसी एक के श्रवण होने पर और अन्य के अतिदेश से प्राप्त होने पर अशब्दत्व होने से विकल्प हो जाता है।

पृषदाज्ये समुच्चयाद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वम् ॥६९॥

पृषदाज्य में समुच्चय होने से आज्यग्रहण गुणार्थक है।

ऋत्वन्तरे वा तन्न्यायत्वात्कर्मभेदात् ॥७०॥

अथवा, दर्शपूर्णमास में कर्मभेद होने से चतुरवत्त दर्शन प्राप्त होता है।

यथाश्रुतीति चेत् ॥७१॥

आक्षेप—जिस यज्ञ में पञ्चावत्त श्रूयमाण होता है, वहाँ श्रुति के प्रमाण से कार्य करना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनैकत्वात् ॥७२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधान एक होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य सप्तमः पादः ॥

अष्टमः पादः

प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारभ्यः विधाने प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात् ॥१॥

पूर्व०—चोदकशास्त्र से प्राप्त और अनारभ्य विधान में प्रतिषेध होता है। प्रत्यक्ष और अतिदेशशास्त्र से प्राप्त का प्रतिषेध होने से विकल्प होता है।

अर्थप्राप्तवदिति चेत् ॥२॥

आक्षेप—जैसे लोक में अर्थ-प्राप्ति (विष खाना चाहिए या नहीं) में प्रतिषेध होता है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रतिषेध है, यदि ऐसा कहो तो—

न तुल्यहेतुत्वाद्भयं शब्दलक्षणम् ॥३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। तुल्य हेतु होने से प्राप्ति और प्रतिषेध दोनों ही शब्दलक्षण हैं, अतः विकल्प मानना ही ठीक है।

अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्यायत्वाद्विकल्पस्य विधिनामेकदेशः स्यात् ॥४॥

सि०—वाक्यशेष से प्रतिषेध ही मानना चाहिए । विधि के एकभाग में निषेध का सम्बन्ध होने से विकल्प मानना अन्याय्य है ।

अपूर्वै चार्थवादः स्यात् ॥५॥

और, अपूर्व सोमयाग में आज्यभाग की प्राप्ति का अभाव होने से वह निषेध अर्थ-वाद है ।

शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात् ॥६॥

प्रथम विधान करने के पश्चात् निषेध करने पर वहाँ विकल्प होता है ।

न चेदन्यं प्रकल्पयेत्प्रकल्पतावर्थवादः स्यादानर्थक्यात्परसामर्थ्यात् ॥७॥

अन्य विधेय का विधान न होने पर विकल्प होता है और अन्य का विधान होने पर विहित का अर्थवाद होता है । पर-द्रव्य के विधान के सामर्थ्य से और निषेध के व्यर्थ होने से ।

पूर्वैश्च तुल्यकालत्वात् ॥८॥

पूर्वाधिकरण के समान योग-क्षेम होने से अर्थवाद है । चातुर्मास्य याग में त्र्यम्बक आहुतियों में अभिघारण या अनभिघारण का उल्लेख केवल अर्थवाद है, न विधि है, न निषेध ।

उपवादश्च तद्वत् ॥९॥

और, उपवाद (उपशब्द से आरम्भ होनेवाला वाक्य 'उपवीता वा ऐतस्य' इत्यादि) भी शिष्टा के समान समझना चाहिए, अर्थात्, ब्रह्मा के सामगान में विकल्प है ।

प्रतिषेधादकर्मैति चेत् ॥१०॥

आक्षेप—प्रतिषेध होने से सामगान अकर्म है, यदि ऐसा कहो तो—

न शब्दपूर्वत्वात् ॥११॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं । सामगान कर्तव्य है, क्योंकि उसका विधान है ।

दीक्षितस्य दान-होम-पाक-प्रतिषेधेऽविशेषात्सर्व-दान-होम-पाक-प्रतिषेधः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—यज्ञ में दीक्षित यजमान के जो दान, होम और पाक का प्रतिषेध है, कोई विशेष वचन न होने से वह सारे दान, होम और पाक का प्रतिषेध है ।

अक्रतुयुक्तानां वा धर्मः स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥१३॥

अथवा, क्रतु के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं है, ऐसे दान आदि का निषेध धर्म है, क्योंकि क्रतु में दान आदि के प्रत्यक्ष विहित होने से उनका निषेध धर्म नहीं है ।

तस्य वाऽप्यानुमानिकमविशेषात् ॥१४॥

अथवा, उस निषेध का विषय अतिदेशशास्त्र से प्राप्त प्रयाजादि का होम और अग्निहोत्र है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष विहित नहीं हैं, आनुमानिक हैं ।

अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यात् ॥१५॥

सि०—वाक्यशेष होने के कारण पर्युदास (किसी विशेष अवस्था में निषेध) है । ज्योतिष्टोम में दीक्षित पुरुष न दान दे, न आहुतियाँ दे, न पकाए । यदि प्रतिषेध माना जाए तो विकल्प होगा ।

अविशेषेण यच्छास्त्रमन्यायत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमारविशेष-
शिष्टं स्यात् ॥१६॥

जो विशेष शास्त्रविहित है वह सामान्य शास्त्र से असम्बद्ध होता है, क्योंकि वह संदिग्ध होता है और विकल्प अन्याय्य होने से सामान्य-विधान विशेष विधि में नहीं होता ।

अप्रकरणे तु यच्छास्त्रं विशेषे श्रूयमाणमविकृतमाज्यभागवत्
प्राकृतप्रतिषेधार्थम् ॥१७॥

पूर्व०—वैमृध आदि विकृति में श्रूयमाण अप्रकरण-पठित वचन का अविकृतरूप में विधान हो तो वह प्राकृत अङ्गों के प्रतिषेध के लिए होता है, आज्यभाग के समान ।

विकारे तु तदर्थं स्यात् ॥१८॥

विकार होने पर भी वह प्राकृत अङ्गों के प्रतिषेध के लिए ही होता है ।

वाक्यशेषो वा क्रतुनाऽग्रहणात् स्यादनारभ्यविधानस्य ॥१९॥

सि०—अनारभ्य विधान का क्रतु के साथ सम्बन्ध न होने से यह वाक्यशेष है, अतः वैमृध आदि विकृति याग में सत्रह सामिधेनिर्या पढ़नी चाहिए ।

मन्त्रेष्ववाक्यशेषत्वं गुणोपदेशात्स्यात् ॥२०॥

मन्त्रों में वाक्यशेष नहीं होता वर्णानुपूर्वीरूप गुण का उपदेश होने से । यहाँ पर प्रदान ही मुख्य कर्म होता है ।

अनाम्नाते दर्शनात् ॥२१॥

जहाँ दविहोमों में स्वाहाकार आम्नात नहीं है, वहाँ भी स्वाहा बोला जाता है, विधान होने से ।

प्रतिषेधाच्च ॥२२॥

और कहीं-कहीं स्वाहाकार का प्रतिषेध होने से भी स्वाहाकार का होना सिद्ध होता है, क्योंकि प्राप्त का ही प्रतिषेध हो सकता है ।

अग्न्यतिग्राह्यस्य विकृतावुपदेशादप्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥

पूर्व०—अग्नि और अतिग्राह्य का विकृति में उपदेश होने से चोदकशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती ।

मासि ग्रहणं च तद्वत् ॥२४॥

और, 'मासि' ग्रहण भी प्राकृत धर्म का निवर्तक है ।

ग्रहणं वा तुल्यत्वात् ॥२५॥

सि०—चोदकशास्त्र से (अतिग्राह्य का) ग्रहण होता है, समानता होने से ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

लिङ्गवाक्यों से भी यही सिद्ध होता है कि अतिग्राह्य की विकृति में प्राप्त है ।

ग्रहणं समानविधानं स्यात् ॥२७॥

अग्नि और अतिग्राह्य का विकृति में जो उपदेश है, वह प्रकृति के समान विधान

मासि ग्रहणमभ्यासप्रतिषेधार्थम् ॥२८॥

मासि ग्रहण अभ्यास के प्रतिषेध के लिए है ।

उत्पत्तित्वादर्थाच्चतुरवत्तं प्रधानस्य होमसंयोगादधिकमाज्यम-

तुल्यत्वाल्लोकवदुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥२९॥

चतुरवत्त श्रवदान प्रधान द्रव्य से होना चाहिए, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होम के लिए ही होती है और उसका होम के साथ संयोग भी है । आज्य तो संस्कार के लिए है । वह प्रधान-द्रव्य पुरोडाश के तुल्य नहीं है तथा उसकी उत्पत्ति भी गौण है, लोकव्यवहार के समान ।

तत्संस्कारश्रुतेश्च ॥३०॥

उपस्तरण और अभिघारण पुरोडाश के संस्कार के लिए श्रूयमाण होते हैं, चतुर-वत्त श्रवदान में इनकी गिनती नहीं है ।

ताभ्यां वा सह स्विष्टकृतः सहत्वे द्विरभिघारणेन तदाप्तवचनात् ॥३१॥

सि०—चतुरवत्त उपस्तरण और अभिघारण के साथ होता है, क्योंकि स्विष्टकृत के सहकृत्व में दो बार अभिघारण का श्रवण चार की पूति के लिए है ।

तुल्यबच्चाभिधाय सर्वेषुभक्त्यनुक्रमणात् ॥३२॥

समानता से कथन करके फिर सबमें भागों का कथन होने से यह सिद्ध होता है कि चतुरवत्ता उपस्तरण और अभिघारण से मिलकर पूर्ण होती है ।

साप्तदशयवन्नियम्येत ॥३३॥

पूर्व०—सप्तदश = सत्रह सामिधेनियों के विकृतियाग में जैसा नियम है वैसा उपांशुयाग में चतुरवत्त का नियम हो सकता है ।

हविषो वा गुणभूतत्वात्तथाभूतविवक्षा स्यात् ॥३४॥

सि०—हविष् विधेय होने से होम सामान्य में चतुरवत्त हविष् की गुणत्व विवक्षा है अर्थात् उपांशुयाग में पुरोडाश में से ही चार भाग करके आहुतियों को चतुरवत्त किया जाएगा ।

पुरोडाशाभ्यामित्यधिकृतानां पुरोडाशयोरुपदेशस्तत् श्रुतित्वाद्द्वैश्व-

स्तोमवत् ॥३५॥

पूर्व०—असोमयाजियों को ही आग्नेय और ऐन्द्राग्न पुरोडाश की विधि है । सुवर्ण की कामना करनेवाले असोमयाजियों के अधिकार का श्रवण होने से उन्हें ही उक्त दो पुरोडाशों से याग करने का उपदेश है वैश्वस्तोम के समान ।

न त्वनित्याधिकारोऽस्ति विधेनित्येन सम्बन्धस्तस्माद्वाक्यशेषत्वम् ॥३६॥

अनित्य (स्वर्ग-कामना) का अधिकार नहीं, क्योंकि विधि का नित्य (दर्शपीर्ण-मास) के साथ सम्बन्ध होता है, अतः इस वाक्य के साथ सम्बन्ध न होने से वह वाक्य का शेष नहीं है ।

सति च वकदेशेन कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥३७॥

अधिकारशेष के होने पर पुरोडाशों का असोमयाजी कर्ता के साथ सम्बन्ध नहीं

हो सकता और अधिकार होने पर प्रधानभूत कर्ता का निर्देश किया जाता है तथा दर्श-
पीर्णमास का एकदेशभूत पुरोडाश भी फल का साधक नहीं हो सकता ।

कृत्स्नत्वात्तु तथा स्तोमे ॥३८॥

वैश्यस्तोम किसी का एकदेश नहीं है, वह तो सम्पूर्ण है, अतः वहाँ फल होता है ।

कर्तुः स्यादिति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—गौण कर्ता के लिए यह उपदेश है, यदि ऐसा कहो तो—

न गुणार्थत्वात्प्राप्ते न चोपदेशार्थः ॥४०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान कर्ता को ही क्रियोपदेश से गुणभूत
प्राप्त होता है । प्राप्त के पुनः उपदेश में कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

कर्मणोस्तु प्रकरणे तन्न्यायत्वाद् गुणानां लिङ्गेन कालशास्त्रं स्यात् ॥४१॥

पुरोडाश और यागरूप कर्म के प्रकरण में 'असोमयाग' पद के प्रयोग से काल—
समय ही लक्षित होता है । सोमयाग के समय से भिन्न समय (दर्शपीर्णमास) में उक्त
दोनों पुरोडाशों से यजन करना चाहिए ।

यदि तु सान्नाय्यं सोमयाजिनो न ताभ्यां समवायोऽस्ति विभक्तकालत्वात् ॥४२॥

परन्तु यदि सान्नाय हविष् सोमयाजियों के लिए हो तो काल के भिन्न होने से
उसका उक्त दोनों पुरोडाशों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

अपि वा विहितत्वाद्गुणार्थायां पुनः श्रुतौ सन्देहे श्रुतिद्विदेवतार्था

स्याद्यथाऽजभिप्रतस्तथाऽऽग्नेयो दर्शनादेकदेवते ॥४३॥

दर्श और पूर्णमास दोनों में आग्नेय पुरोडाश विहित है, पुनः श्रुति किसलिए,
ऐसा सन्देह होने पर इसका समाधान यह है कि श्रुति दो देवताओं के विधान के लिए है ।
एक देवतावाली अग्नि में आग्नेय केवल अनुवादरूप है ।

विधि तु बादरायणः ॥४४॥

परन्तु दोनों की कालविधि होती है—ऐसा आचार्य बादरायण मानते हैं ।

प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा ॥४५॥

सि०—यह कालविधि अधिक कर्मों की उत्पत्ति आग्नेय का अनुवाद और ऐन्द्राग्नि
की विधि नहीं है, प्रतिषिद्ध विज्ञान से दोनों का अनुवाद है ।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४६॥

और, अन्यार्थ (श्रुतिप्रमाणों) से भी इसी प्रर्थ की पुष्टि होती है ।

उपांशुयाजमन्तरा यजतीति हर्षिर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्यथाकामी प्रतीयेत ॥४७॥

पूर्व०—'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इस वाक्य से उपांशुयाग का विधान है । किसी
हविविशेष की श्रुति न होने से कर्ता चाहे जिस द्रव्य से उपांशुयाग कर ले ।

ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगात् ॥४८॥

सि०—'सर्व' शब्द का सब यागों के साथ सम्बन्ध होने से ध्रुवा नामक पात्रस्थ
षाण्य से ही उपांशुयाग करना चाहिए ।

तद्वच्च देवतायां स्यात् ॥४६॥

पूर्व०—द्रव्य की भाँति देवता में भी अनियम है। उपांशुयाग किस देवता के लिए है, इसका भी कोई विधान नहीं है।

तन्त्रीणां प्रकरणात् ॥५०॥

सि०—प्रकरण के अनुसार किसी एक देवता का अग्रगम हो सकता है।

धर्माद्वा स्यात्प्रजापतिः ॥५१॥

पूर्व०—धर्म (विशेषताओं) के कारण प्रजापति ही उपांशुयाग का देवता होता है।

देवतायास्त्वनिर्वचनं तत्र शब्दस्येह मृदुत्वं तस्माद्विहाधिकारेण ॥५२॥

जहाँ उपांशुयाग का विधान है, वहाँ उसके देवता का कथन नहीं और प्राजापत्य याग में उपांशु धर्मवाचक शब्द का स्पष्ट श्रवण नहीं, अतः शब्द-सादृश्य न होने से उपांशु-याग में मुख्य देवता अग्नि का ही स्वामित्व है।

विष्णुर्वा स्याद्द्वौत्राम्नानादमावास्याहविश्च स्याद्द्वौत्रस्य तत्र दर्शनात् ॥५३॥

अथवा, उपांशुयाग का देवता विष्णु है। हौत्रमन्त्र के आम्नान होने से दर्श = अमावास्या की हविः है। अमावास्या में ही वैष्णव हौत्र का दर्शन = विधान भी है।

अपि वा पौर्णमास्यां स्यात्प्रधानशब्दसंयोगाद्गुणत्वान्मन्त्रो यथाप्रधानं स्यात् ॥५४॥

अथवा, पौर्णमासी में उपांशुयाग होता है, क्योंकि मुख्य शब्द का उसी के साथ श्रवण होता है। मन्त्र गौरूप होने से प्रधान के अनुसार कर्म होना चाहिए।

आनन्तर्यं च सान्नाय्यस्य पुरोडाशेन दर्शयत्यमावास्याविकारे ॥५५॥

अमावास्या का विकृतियाग जो साकंप्रस्थानीय है उसमें सान्नाय का आनन्तर्यः पुरोडाश के द्वारा देखा जाता है, उपांशुयाग का नहीं, अतः अमावास्या में उपांशुयाग का अनुष्ठान नहीं होता।

अग्नीषोमविधानात्तु पौर्णमास्यापुभयत्र विधीयते ॥५६॥

वस्तुतः पौर्णमासी याग में अग्नीषोमीय देवता का विधान है, अतः पौर्णमासी और अमावास्या दोनों में उपांशुयाग कर्तव्य है।

प्रतिषिद्धं च विधानाद्वा विष्णुः समानदेशः स्यात् ॥५७॥

सि०—प्रतिषेध करके विधान होने से पौर्णमासी में ही उपांशुयाग होता है और विष्णु, प्रजापति और अग्नीषोमीय उसके देवता हैं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५८॥

पौर्णमासी में चौदह ब्राह्मणियों के हवन के विधान से अन्य प्रमाण भी इसी अर्थ को दिखाते हैं कि अमावास्या में उपांशुयाग नहीं होता।

न चानङ्गं सकृत् श्रुतावुभयत्र विधीयतासम्बन्धात् ॥५९॥

प्रधान के एक बार श्रूयमाण होने से वह दो स्थानों पर विहित नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है।

विकारे चाश्रुतित्वात् ॥६०॥

और, अमावास्या के विकृतियाग में उपांशुयाग का श्रवण न होने से अमावास्या में

उपांशुयाग कर्तव्य नहीं।

द्विपुरोडाशायं स्यादन्तरालगुणार्थत्वात् ॥६१॥

पूर्व०—दो पुरोडाशवाले पौर्णमासी में उपांशुयाग होना चाहिए, अन्तरालरूप गुण का विधान होने से।

अज्ञामिकरणार्थत्वाच्च ॥६२॥

और, अज्ञामित्व—असाहस्य करने के लिए भी द्विपुरोडाश दशा में ही उपांशुयाग सिद्ध होता है।

तदर्थमिति चेन्न तत्प्रधानत्वात् ॥६३॥

अन्तरालत्व होने से द्विपुरोडाश दशा में ही उपांशुयाग होता है, यदि ऐसा कहो तो—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि पौर्णमासी प्रधान है और अन्तराल गौण है, अतः एक पुरोडाशवाले पौर्णमासी में भी उपांशुयाग कर्तव्य है।

अशिष्टेन च सम्बन्धात् ॥६४॥

और, अश्रुत अन्तरालार्थ के साथ उपांशुयाग का सम्बन्ध करना चाहिए।

उत्पत्तेस्तु निवेशः स्याद्गुणस्थानुपरोधेनार्थस्य विद्यमानत्वाद्विधानादन्तरार्थस्य

नैमित्तिकत्वात्तदभावेऽश्रुतौ स्यात् ॥६५॥

गुणत्व से अन्तराल श्रूयमाण नहीं होता। उत्पत्तिवाक्य के द्वारा ही अन्तराल में उपांशुयाग निविष्ट होता है। अन्तराल अर्थ द्विपुरोडाश में होता है, विधान होने से। जहाँ अन्तरालरूप निमित्त होता है वहाँ ही उपांशुयाग होता है; जहाँ अन्तराल नहीं होता वहाँ उपांशुयाग भी नहीं होता। यदि द्विपुरोडाशवाली पौर्णमासी न हो तो एक पुरोडाशवाली पौर्णमासी में उपांशुयाग होता है; परन्तु दो पुरोडाशवाली पौर्णमासी है, अतः एक पुरोडाशवाली पौर्णमासी में उपांशुयाग नहीं होता।

उभयोस्तु विधानात् ॥६६॥

सि०—विधान होने से एक पुरोडाश और द्विपुरोडाशवाली दोनों पूर्णमासियों में उपांशुयाग होता है।

गुणानाञ्च परार्थत्वादुपवेषवद् यदेति स्यात् ॥६७॥

गुणों के प्रधान के लिए होने के कारण गुणों के होने या न होने पर भी प्रधान कार्य होता है, 'उपवेषी' के समान, अतः उपांशुयाग एक पुरोडाशवाली पूर्णमासी में भी करना चाहिए।

अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशौ ॥६८॥

दोनों पुरोडाश काल को लक्षित करते हैं। एक पुरोडाश में भी यह लक्षण है।

प्रशंसार्थमज्ञामित्वम् ॥६९॥

और जो उपांशुयाग को अज्ञामित्व के लिए कहा है, वह तो केवल प्रशंसा के लिए है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य अष्टमः पादः ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

एकादशोऽध्यायः

प्रथमः पादः

प्रयोजनाभिसम्बन्धात्पृथक् सतां ततः स्यादककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात् ॥१॥

सि०—पृथक्-पृथक् आग्नेय आदि याग एक कर्म हैं, क्योंकि उन सबका मिलकर एक नाम है और उन सबका प्रयोजन के साथ अभिसम्बन्ध है। (एक कर्म का अर्थ है एक फल होना, सब अङ्गों का एक फल होता है, अलग-अलग नहीं।)

शेषवद्वा प्रयोजनं प्रतिकर्म विभज्येत ॥२॥

आक्षेप—‘शेष’ के समान प्रतिकर्म फल का भेद होता है।

अविधानात्तु नैवं स्यात् ॥३॥

समा०—शेष और शेषी का साम्यरूप से विधान न होने से ऐसा नहीं हो सकता।

शेषस्य हि परार्थत्वाद्विधानात्प्रतिप्रधानभावः स्यात् ॥४॥

शेष = फल परार्थ = प्रधान के लिए होता है और इसका विधान भी है, अतः प्रत्येक प्रधान में इसकी आवृत्ति होती है।

अङ्गानां तु शब्दभेदात्क्रतुवत्स्यात् फलान्यत्थम् ॥५॥

पूर्व०—शब्दभेद होने से अङ्गों का फल पृथक्-पृथक् होता है, सौर्य आदि क्रतुओं के समान।

अर्थभेदस्तु तत्रार्थैर्हैकार्थ्यादककर्म्यम् ॥६॥

सि०—क्रतुओं में अर्थभेद है परन्तु यहाँ अङ्ग प्रधान कर्म के उपकारी हैं, अतः सब एक कर्म = फलजनक हैं।

शब्दभेदान्नेति चेत् ॥७॥

आक्षेप—शब्द भिन्न होने से अङ्गों का फल पृथक्-पृथक् होता है, यदि ऐसा कहो तो—

कर्मार्यत्वात्प्रयोगे ताच्छब्दं स्यात्तदर्थत्वात् ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। कर्मार्यत्व होने से उसी प्रधान प्रयोग वचन से ही अङ्गों का भी प्रयोग कहा गया है, क्योंकि वे उसी के लिए होते हैं।

कर्तृविधेर्नानार्थत्वाद्गुणप्रधानेषु ॥९॥

प्रधान और अङ्ग-विधियों में कर्त्ता को जो प्रधान विधि है, वह नाना अर्थवाली होती है। प्रधान विधि तो फलार्थ होती है और अङ्गविधि प्रधानार्थ होती है, अतः अङ्ग प्रधान से अनुगृहीत नहीं होते।

आरम्भस्य शब्दपूर्वत्वात् ॥१०॥

प्रत्येक व्यापार शब्दपूर्वक होता है, अतः प्रधान-प्रयोग वचन से ही अङ्गों का प्रयोग विधीयमान होता है ।

एकेनापि समाप्येत कृतार्थत्वाद् यथा ऋत्वन्तरेषु प्राप्तेषु चोत्तरावत्स्यात् ॥११॥

पूर्व०—एक अङ्ग का अनुष्ठान करने से भी प्रयोग की समाप्ति होती है, क्योंकि उससे कृतार्थता हो जाती है, स्वर्ग-साधन सौर्य आदि में से किसी भी यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है, 'उत्तरा' के समान ।

फलाभावादिति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—सम्पूर्णता न करने से फल का अभाव होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात्प्रयोजनमशब्ददोषं स्यात् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं । प्रधान कर्म का फल के साथ संयोग होने से फलार्थत्व में कोई शब्ददोष नहीं है ।

एकशब्दादिति चेत् ॥१४॥

आक्षेप—केवल एक वाक्य होने से दशपूर्णमासियों से तत्फल है, समिदादि से नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थपृथक्त्वात्समत्वादगुणत्वम् ॥१५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ में पृथक्त्व होता है और समानता होने से अगुणत्व भी होता है ।

विधेस्त्वेकश्रुतित्वादपर्यायविधानान्नित्यवत् श्रुतिभूताभिसंयोगार्थेन युगपत्प्राप्त्यर्थया-

क्रमं स्वशब्दो निवीतवत्समात्सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात् ॥१६॥

सि०—एकदेश से भी अङ्गों के प्रयोग का कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधि का एक श्रुतित्व होने से सर्वाङ्गोपसंहार से प्रयोग होता है । पर्याय से इन अङ्गों का विधान न होने से भी एकदेशापेक्षा युक्त नहीं है । प्रर्थ के द्वारा एक ही साथ प्राप्ति होने के कारण भी नित्यवत् श्रुतों का भी एकदेश अपेक्षित नहीं होता । क्रमपूर्वक सब अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिए निवीत की भाँति । यहाँ भी सर्वप्रधान प्रयोग के साथ सब अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिए ।

तथा कार्मोपदेशः स्यात् ॥१७॥

ऐसा करने से कर्म (आहुतियों की संख्या) का उपदेश भी चरितार्थ होता है ।

ऋत्वन्तरेषु पुनर्वचनम् ॥१८॥

भिन्न-भिन्न यागों में अलग-अलग फलश्रुति है । यहाँ सब कर्म मिलकर फल देते हैं, अतः सब अङ्गों का अनुष्ठान एकसाथ होना चाहिए ।

उत्तरास्वश्रुतित्वाद्द्विशेषाणां कृतार्थत्वात्स्वदोहे यथाकामी प्रतीयेत ॥१९॥

'उत्तरा' यागों में दोहन विहित न होने से और वाग्विसर्ग आदि के विधान से कृतार्थ होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि गौओं के दोहन में कर्त्ता स्वतन्त्र है, वह इच्छा-पुसार अपनी गौओं को दुह सकता है ।

कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात्कृषिवत् प्रत्यारम्भं फलानि स्युः ॥२०॥

काम्य-कर्म के अनुष्ठान में प्रत्येक प्रयोग से फल प्राप्त होना चाहिए, प्रत्येक आरम्भ से फल हुआ करते हैं, कृषि के समान ।

अधिकारद्वय सर्वेषां कार्यत्वादुपपद्यते विशेषः ॥२१॥

और, सब कर्मों का अनुष्ठान पुनः-पुनः करने से विशेष अधिकार उपपन्न = प्राप्त होता है अतः जितनी इच्छा है, उतना अभ्यास करे ।

सकृत् स्यात्कृतार्थत्वादङ्गवत् ॥२२॥

पूर्व०—काम्य-कर्म का तो अङ्गवत् एक ही बार अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि एक बार अनुष्ठान करने से ही विधि चरितार्थ हो जाती है ।

शब्दार्थद्वय तथा लोके ॥२३॥

और, विधि शब्द के अर्थ का अनुष्ठान एक ही बार होता है, जैसे लोकव्यवहार में 'काष्ठ लाओ' ऐसा कहने पर एक ही बार काष्ठ (लकड़ी) लाया जाता है ।

अपि वा सम्प्रयोगे यथाकामीप्रतीयेताश्रुतित्वाद्द्विधु वचनानि स्युः ॥२४॥

सि०—काम्य कर्मों के अनुष्ठान में कर्ता अपनी इच्छानुसार एक या अनेक बार काम्य-कर्म कर सकता है । एक ही बार कर्म करे, ऐसा कोई शास्त्रवचन नहीं है । विधिवचन तो केवल काम्य-कर्मों का अनुष्ठान ही बताता है ।

ऐकशब्दात्तथाङ्गेषु ॥२५॥

एक ही शब्द = वचन के होने से अङ्गों के अनुष्ठान में वैसा हो सकता है, परन्तु फल की इच्छा में नहीं, अतः काम्य-कर्मों की आवृत्ति होती है ।

लोके कर्माऽर्थलक्षणम् ॥२६॥

लौकिक दृष्टान्त भी ठीक नहीं । लौकिक कर्म का फल प्रत्यक्ष होता है, अतः उसी के अनुसार कर्म होता है ।

क्रियाणामर्थशेषत्वात्प्रत्यक्षमतस्तन्निर्वृत्त्याऽपवर्गः स्यात् ॥२७॥

दृष्ट प्रयोजनवाली क्रियाओं (कूटकर चावल निकालना आदि) का प्रयोग फल-निष्पत्ति पर्यन्त होता है, अतः प्रयोजन की सिद्धि तक आवृत्ति होनी चाहिए ।

धर्ममात्रे त्वदर्शान्च्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात् ॥२८॥

जहाँ अवहनन अदृष्ट फल के लिए होता है, वहाँ एक बार ही अवहनन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से विधि चरितार्थ होती है ।

ऋतुवद्वानुमानेनाभ्यासे फलभूमा स्यात् ॥२९॥

पूर्व०—अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अभ्यास करने से भूमा = अधिक फल हाता है, यह अनुमान से जाना जाता है । जैसे सौर्य आदि में फल कर्म से होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होता है ।

सकृद्वा कारणैकत्वात् ॥३०॥

सि०—एक बार ही अङ्ग का प्रयोग करना चाहिए, प्रधानरूप कारण एक होने से ।

परिमाणं चानियमेन स्यात् ॥३१॥

जब अङ्ग के एक बार या अनेक बार करने का कोई नियम नहीं है, तब यज्ञ की आहुतियों की कोई सीमा नहीं रहेगी, अतः अभ्यास नहीं है।

फलारम्भनिवृत्तेः क्रतुषु स्यात् फलान्यत्वन् ॥३२॥

क्रतुओं में अभ्यास उचित है, क्योंकि वहाँ फल के आरम्भ से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। क्रतुओं में फलभेद होता है। काम्यकर्मों में कर्म मुख्य है, सब कर्म मिलकर फल देते हैं, अतः वहाँ अभ्यास नहीं है।

अर्थवास्तु नैकत्वादभ्यासः स्यादनर्थको यथा भोजनमेकस्मिन्नर्थस्या-

परिमाणत्वात्प्रधाने च क्रियार्थत्वादनियमः स्यात् ॥३३॥

पूर्व०—अङ्गों का अभ्यास फलवान् होता है। एक कर्मविषयक अभ्यास अनर्थक होता है, जैसे एक ही समय भोजन की आवृत्ति निरर्थक होती है। प्रधान फल नियत न होने से और प्रधान कर्म में क्रिया फल उत्पन्न करने में सहायक होने से वहाँ नियम नहीं होता।

पृथक्त्वाद्विधितः परिमाणं स्यात् ॥३४॥

चौदह और तेरह संख्या का नियम भिन्न अर्थवाला है। अर्थ भिन्न होने से उपकाराभ्यास न्याय प्राप्त होने पर आहुतियों की संख्या विधिपरक होती है।

अनभ्यासो वा प्रयोगवचनैकत्वात्सर्वस्य युगपच्छास्त्रादफलत्वाच्च

कर्मणः स्यात्क्रियार्थत्वात् ॥३५॥

सि०—प्रयोगवचन के एक होने से अङ्गों का अभ्यास नहीं होता। कर्म का अफलत्व होने से सब अङ्ग और प्रधान कलाप का एक साथ शासन है। अङ्गों का स्वयं कोई फल नहीं, परन्तु वे प्रधान कर्म के सहायक हैं।

अभ्यासो वा छेदनसम्मार्गाऽवदानेषु वचनात्सकृत्वस्य ॥३६॥

पूर्व०—अङ्गों का अभ्यास होता है, क्योंकि एक बार करने का विधान छेदन, सम्मार्ग और अवदान के सम्बन्ध में ही है।

अनभ्यासस्तु वाच्यत्वात् ॥३७॥

सि०—प्रयाजादि अङ्गों में अभ्यास नहीं होता, वे एक ही बार किये जाते हैं। छेदन आदि में जो अभ्यास कथन किया है, उसका प्रयोजन भिन्न है।

बहुवचनेन सर्वंप्राप्तेर्विकल्पः स्यात् ॥३८॥

पूर्व०—बहुवचन से संख्याओं की प्राप्ति होने से संख्याओं का विकल्प होना चाहिए। ('कपिञ्जलानालभेत'—यहाँ 'कपिञ्जलान्' बहुवचन है, अतः तीन, चार, पाँच कोई भी संख्या ली जा सकती है।)

दृष्टः प्रयोग इति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—'बहुवचन से तीन का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसे प्रयोग मिलते हैं,' यदि ऐसा कहो तो—

सथेहि ॥४०॥

समा०—उस प्रकार तो यहाँ भी कपिञ्जल का प्रयोग मयूर और कपोत में भी देखा गया है ।

भक्त्येति चेत् ॥४१॥

ब्राह्मेण—यहाँ कपिञ्जल शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति से है, यदि ऐसा कहे तो—

तथेतरस्मिन् ॥४२॥

समा०—उसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी गौणवृत्ति से ही प्रयोग समझना चाहिए ।

प्रथमं वा नियम्येत कारणादतिक्रमः स्यात् ॥४३॥

सि०—बहुसंख्या में प्रथम नियम्य होता है अर्थात् केवल तीन का ही ग्रहण होगा । इसका नाम है 'कपिञ्जल-न्याय' । कोई विशेष कारण होने पर ही तीन संख्या का अतिक्रमण होता है ।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४४॥

इस अर्थ के साधक अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं ।

प्रकृत्या च पूर्ववत्तदासत्तेः ॥४५॥

और, प्रकृति से अग्नीषोमीय से एकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्ववत् उसका सामीप्य है । (तीन संख्या एकत्व के समीप है, चार आदि नहीं, अतः कपिञ्जलान् से तीन कपिञ्जल समझने चाहिए) । प्रथम के त्याग करने में कोई प्रमाण नहीं है ।)

उत्तरामु न यावत्स्वमपूर्वत्वात् ॥४६॥

पूर्व०—'उत्तर' गौश्रों में जितनी गौश्रों में यजमान का स्वत्व है, उतनी गौश्रों को दुहने का विधान है । यहाँ अपूर्व अर्थ होने से विधि है, अनुवाद नहीं है ।

यावत्स्वं वाऽन्यविधानेनानुवादः स्यात् ॥४७॥

यजमान के पास जितनी गौ हैं उन सबका दोहन करना चाहिए, यह तो अनुवाद है, विधान दूसरा है । 'विसृष्टवागनवारभ्य'—वाणी की छोड़कर उन गौश्रों को न छूए, इस वाक्य में विधान है । 'उत्तरा दोहयति' फिर पिछली गायों को दुहता है, इस वाक्य में विधान नहीं है ।

साकल्यविधानात् ॥४८॥

सारी गायों के दोहन का विधान होने से उत्तरा-दोहन अनुवाद है ।

बह्वर्थत्वाच्च ॥४९॥

तथा, बहुत अर्थ का कथन होने से बहु-दोहन की प्रतीति होती है ।

अग्निहोत्रे चाशेषवद्यवागूनियमः ॥५०॥

और, अग्निहोत्र में यवागू (यव की माँड) की आहुति का नियम समस्त पय की सान्नायार्थता को दिखाता है । (सान्नाय—दही और घी का घोल)

तथा पयः प्रतिषेधः कुमारानाम् ॥५१॥

उपर्युक्त कारण से ही (यज्ञ में बहुत सा सान्नाय होना चाहिए) कुमारों को दूध देने का भी निषेध है ।

सर्वप्रापिणापि लिङ्गेन संयुज्य देवताभिसंयोगात् ॥५२॥

ऐसा लिङ्गवचन भी विद्यमान है जो सब गौश्रों के दोहन का विधान करके उससे वत्स और मनुष्यों की तृप्ति करके उसका सम्बन्ध देवताश्रों से जोड़ता है ।

प्रधानकर्मार्षत्वादङ्गानां तद्भेदात् कर्मभेदः प्रयोगे स्यात् ॥५३॥

पूर्व०—अङ्गों के प्रधान के लिए होने से प्रधान कर्मों में भेद होने पर अङ्गों के अनुष्ठान में कर्मभेद होता है ।

क्रमकोपश्च यौगपद्ये स्यात् ॥५४॥

एक साथ तन्त्र^१ रूप अनुष्ठान करने से विहित—प्रधानों का क्रमकोप होता है ।

तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात् स्याद्विशेषाग्रहणात् ॥५५॥

सि०—जिस कर्म के देश, काल और कर्ता समान होते हैं, उनका अनुष्ठान एक-साथ ही होता है । अङ्ग का उपदेश भी दर्श और पीर्णमासरूप एक ही शब्द से होता है और अङ्गों में कोई विशेषता भी नहीं, अतः तन्त्र से अनुष्ठान होना उचित है ।

एकाथ्यादव्यव्ययः स्यात् ॥५६॥

सारे अङ्गों का प्रयोजन एक होने से क्रमकोप भी नहीं है ।

तथा चान्यार्थदर्शनं कामुकायनः ॥५७॥

इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, ऐसा आचार्य कामुकायन मानते हैं ।

तन्न्यायत्वादशक्तेरानुपूर्व्यं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥५८॥

'अङ्गों का एकसाथ अनुष्ठान होना चाहिए' इस न्याय से सर्वत्र सहक्रिया होती है परन्तु जहाँ सह-अनुष्ठान सम्भव नहीं वहाँ आवृत्ति से अङ्गों का अनुष्ठान होता है, क्योंकि एक संस्कार से ही कार्य पूर्ण हो जाता है ।

असंपृष्टोऽपि तादर्थ्यात् ॥५९॥

आक्षेप—असंपृष्ट आचार आदि भी प्रधान के लिए होने से प्रतिवर्तित होते हैं ।

विभवाद्वा प्रदीपवत् ॥६०॥

समा०—किसी एक के सन्निधान में क्रियमाण होने पर भी अङ्ग सबके उपकारक होते हैं, अतः अङ्गों में सामर्थ्य होने से उनकी प्रवृत्ति नहीं है प्रदीप के समाने । प्रदीप एक भी सन्निधि में प्रदीप्त होकर सबका उपकार करता है ।

१. जब एक ही कर्म बहुतों का उपकारक होता है, उसे तन्त्र कहते हैं, जैसे मध्य में रखा हुआ दीपक । जो कार्य अलग-प्रलग करने पड़ते हैं, उन्हें अवाप कहते हैं, जैसे अग्नि सबको अलग-अलग लगाना पड़ेगा ।

अर्थात् लोके विधिः प्रतिप्रधानं स्यात् ॥६१॥

पूर्व०—लोकव्यवहार में फलरूप अर्थ प्रत्यक्ष होने से सकृत्—एक बार अनुष्ठान माना जा सकता है परन्तु विधि-प्राप्त कर्म तो प्रत्येक प्रधान के साथ होना चाहिए।

सकृद्विद्यां कामुकायनः परिमाणविरोधात् ॥६२॥

आचार्य कामुकायन का मत है कि अङ्गों का अनुष्ठान एक बार होना चाहिए अन्यथा आहुतियों के परिमाण में विरोध आएगा।

विधेस्त्वितरार्थत्वात् सकृद्विद्याभूतिव्यतिक्रमः स्यात् ॥६३॥

अङ्गों का अनुष्ठान प्रधान के लिए होने से एक ही बार अनुष्ठान करना शास्त्र-विरुद्ध है।

विधिवत्प्रकरणविभागे प्रयोगं बादरायणः ॥६४॥

सि०—प्रकरण में विभाग न होने से तन्त्र से प्रयोग होता है, आचार्य बादरायण ऐसा मानते हैं।

क्वचिद्विधानान्नेति चेत् ॥६५॥

आक्षेप—कहीं-कहीं सहविधान होने से सर्वत्र सहविधान नहीं हो सकता, यदि ऐसा कहो तो—

न विधेश्चोदितत्वात् ॥६६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि निर्वाप विधि का पृथक् कथन है।

व्याख्यातं तुल्यानां यौगपद्यमगृह्यमाणविशेषाणाम् ॥६७॥

पूर्व०—जैसा पूर्व व्याख्यान कर दिया गया है, जहाँ किसी विशेष के ग्रहण का कथन न हो और समानता हो, वहाँ सह-अनुष्ठान होता है।

भेदस्तु कालभेदाच्चोदनाव्यवायात् स्याद्विशिष्टानां विधिः

प्रधानकालत्वात् ॥६८॥

सि०—कालभेद होने से प्रदान का भेद ही है। चोदक-व्यवाय—व्यवधान होने से कालभेद होता है। काल की प्रधानता होने से विशिष्टों की विधि होती है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥६९॥

अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

विधिरिति चेन्न वर्तमानापदेशात् ॥७०॥

उक्त वाक्य विधिपरक है, यदि ऐसा कहो तो—ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमानकाल का उल्लेख है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

एकदेशकालकर्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात् ॥१॥

सि०—प्रधानभूत छह अङ्गों में देश, काल और कर्ता की एकता होती है, क्योंकि उनका एक शब्द से विधान है।

अविधिश्चेत्कर्मणामभिसम्बन्धः प्रतीयेत तल्लक्षणार्थाभिसंयोगाद्

विधित्वाच्चेतरेषां प्रतिप्रधानं भावः स्यात् ॥२॥

पूर्व०—यदि प्रधान कर्मों को उद्देशी के देश आदि का विधान न होता तो 'आग्नेय' आदि अङ्गों का देश, काल आदि के साथ सम्बन्ध हो सकता था परन्तु लक्षणों के संयोग से प्रत्येक प्रधान के साथ इतर विधियों का सम्बन्ध है।

अङ्गेषु च तदभावः प्रधानं प्रति निर्देशात् ॥३॥

पूर्व०—प्रयाजादि अङ्गों में देश, काल आदि का अभाव होता है, क्योंकि उनका प्रधान के प्रति निर्देश है।

यदि तु कर्मणो विधिसम्बन्धः स्यादैकशब्दात्प्रधानार्थभिसंयोगात् ॥४॥

सि०—यदि 'आग्नेय' आदि कर्म का विधि के साथ सम्बन्ध होता तो अलग-अलग अनुष्ठान होता परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि समुदायवाचक एक शब्द से निर्देश होने से उसका सम्बन्ध स्वर्गरूप प्रधान फल की प्राप्ति के साथ है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५॥

ऐसा मानने पर अन्य प्रमाण भी सङ्गत हो जाते हैं।

श्रुतिश्चेषां प्रधानवत्कर्मश्रुतेः पदार्थत्वात्कर्मणोऽश्रुतित्वाच्च ॥६॥

दर्शपूर्णमासरूप कर्म की श्रुति परार्थ है, अतः देशादि का श्रवण प्रधानवत् होता है। कर्म के अश्रुत होने से भी तन्त्रभाव सिद्ध होता है।

अङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानोपदिश्येरस्तस्मात्स्यादेकदेशत्वम् ॥७॥

सि०—फलवाक्य से विधान होने के कारण अङ्ग प्रधान के साथ उपदिष्ट होते हैं, अतः अङ्गों का प्रधान के साथ एक ही देश तथा काल कर्तृत्व होता है।

द्रव्यदेवतं तथेति चेत् ॥८॥

आक्षेप—द्रव्य और देवता प्रधान और अङ्गों के भेद से होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदना विधिशेषत्वान्नियमार्थो विशेषः ॥९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्य और देवता उत्पत्ति-विधि के शेष होने से विशेष नियम के लिए हैं।

तेषु समवेतानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां

प्रधानशब्दत्वात्तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१०॥

प्रधानयाग में विहितों का सम्बन्ध होने से तन्त्र से अनुष्ठान होता है। द्रव्य और देवता का भेद होने से कर्म—अनुष्ठान में भी भेद होता है और प्रयोग में भी। छह यागों में प्रधान होने से और अङ्ग तथा अङ्गी का तन्त्र से अनुष्ठान करने से पूर्णमासी में चौदह ऋतुतियाँ देने का विधान भी उपपन्न हो जाता है।

इष्टिराजसूयचातुर्मास्येष्वेककर्म्यादङ्गानां तन्त्रभावः स्यात् ॥११॥

पूर्व०—दर्शोष्टि, पूर्णमासेष्टि, राजसूय और चातुर्मास्य में एक फल होने से तन्त्र से प्रयोग होता है।

कालभेदान्नेति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—काल का भेद होने से तन्त्र से अनुष्ठान करना उचित नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

नेकदेशत्वात्पशुवत् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि पशु की भाँति एकदेशत्व होता है।

अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां तन्त्रविधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ॥१४॥

सि०—दर्शयाग त्रय और पीर्णमासयाग त्रय का तन्त्र से विधान होने के कारण दर्शप्रयोग और पीर्णमासप्रयोग पृथक् होता है, अतः उन-उन प्रयोगों में अङ्गसहित प्रयोगों का उपदेश है, इसलिए विशेष ग्रहण करने में भेद होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

पीर्णमासी में चौदह ग्राहृति आदि के प्रमाण उपलब्ध होने से भी भेद ही सिद्ध होता है।

तदाऽवयवेषु स्यात् ॥१६॥

तब चातुर्मास्य आदि के अवयवों में भी देश-काल-भेद से तन्त्र-भेद हो जाएगा।

पशौ तु चोदनैकत्वात्तन्त्रस्य विप्रकर्षः स्यात् ॥१७॥

सवनीय पशु में एक विधान होने से तन्त्र से ही अनुष्ठान होना योग्य है।

तथा स्यादध्वरकल्पेष्टौ विशेषककालत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—इस प्रमाण से 'अध्वरकल्प' इष्टि में भी निर्वापान्त अङ्गकलाप का एक फल होने से तन्त्र से अनुष्ठान होना चाहिए।

इष्टिरिति चैकवत् श्रुतिः ॥१९॥

'अध्वरकल्प' इष्टि में एकवचन का प्रयोग होने से भी यही सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण इष्टि एक है, अतः तन्त्र से अनुष्ठान करना चाहिए।

न वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां च तन्त्र विधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ॥२०॥

सि०—तन्त्र = अभेद से अनुष्ठान नहीं होगा। भिन्न-भिन्न काल में कर्मों का विधान होने से और तन्त्रशास्त्र के विधान से साङ्गकर्मों का उपदेश भेद से अनुष्ठान करने के लिए है।

प्रथमस्य वा कालवचनम् ॥२१॥

अथवा, प्रातःकाल का विधान प्रथम पुरोडाश के लिए है, दोनों के लिए नहीं।

फलैकत्वादिष्टिशब्दो यथान्यत्र ॥२२॥

एक फल का उपदेश होने से इष्टि शब्द में एकवचन का प्रयोग है, जैसा अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।

वसाहोमस्तन्त्रभेकदेवतेषु स्यात् प्रदानस्यैककालत्वात् ॥२३॥

एक देवता प्रजापति = परमात्मा की प्रीत्यर्थ जो पशु का दान दिया जाता है उसमें वसाहोम = पुष्टपशु का दान एक ही बार करना चाहिए, क्योंकि प्रदान का समय एक ही होता है।

कालभेदात्त्वावृत्तिर्देवता भेदे ॥२४॥

और, समय और देवता का भेद होने से भेद से अनुष्ठान करना चाहिए ।

अन्ते यूपाहुतिस्तद्वत् ॥२५॥

पूर्व०—नाना देवताओं में वसाहोम जैसे भेद से होता है, वैसे ही अन्त में यूपा-
हुति भी भेद से करनी चाहिए ।

इतरप्रतिषेधो वा अनुवादमात्रमन्तिकस्य ॥२६॥

सि०—यह आहवनीय-प्रतिषेध है, अन्तविधि नहीं है, अतः भेद से नहीं करनी
चाहिए । यह तन्त्र है ।

अशास्त्रत्वाच्च देशानाम् ॥२७॥

और, देश का विधान न होने से भी यूपाहुति तन्त्र है ।

अवभृथे प्रधानेऽग्निविकारः स्यान्न हि तद्धेतुरग्निसंयोगः ॥२८॥

पूर्व०—अवभृथ में प्रधान कर्म में अग्नि का विकार होता है, क्योंकि अग्नि के
साथ प्रधान हेतुक-अङ्गों का संयोग नहीं है ।

द्रव्यदेवतावत् ॥२९॥

जैसे द्रव्य (कपाल) और देवता (वरुण) प्रधान कर्मों में विहित हैं, वैसे ही आपः
=जल भी प्रधान कर्मों में विहित हैं, अवभृथ कर्म के साथ अङ्गों का सम्बन्ध नहीं है ।

साङ्गो वा प्रयोगवचनैकत्वात् ॥३०॥

सि०—अङ्गसहित प्रधान कर्म 'आपः' में कर्तव्य हैं, क्योंकि प्रयोगविधि में एकत्व
पाया जाता है ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३१॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है ।

शब्दविभागाच्च देवतापनयः ॥३२॥

अवभृथ शब्द द्वारा विभाग होने से द्रव्य देवता का अपनय होता है, अतः अङ्गों के
साथ उसका सम्बन्ध नहीं है ।

दक्षिणेऽग्नौ वरुणप्रघासेषु देशभेदात्सर्वं विक्रियते ॥३३॥

सि०—वरुणप्रघास याग में दक्षिणाग्नि में देशभेद होने के कारण सब अङ्गों का
अनुष्ठान अलग-अलग करना चाहिए, तन्त्र से नहीं ।

अचोदनेति चेत् ॥३४॥

आक्षेप—कर्म का विधान होने से अङ्गों की प्राप्ति ही नहीं है फिर भेद अथवा
तन्त्र के विचार का अवकाश ही कहाँ, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात्पौर्णमासीवत् ॥३५॥

समा०—अङ्गों की प्राप्ति है, पौर्णमासी के समान ।

प्रयोगचोदनेति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—प्रयोगविधि है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेह ॥३७॥

समा०—उसी प्रमाण से यहाँ भी है ।

आसादनमिति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—‘मासति’ याग में आसादन है, यदि ऐसा कहो तो—
नोत्तरेणैकवाक्यत्वात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उत्तरवेदि के साथ एकवाक्यता होने से यह आसादन अदृष्टार्थ नहीं है।

अवाक्यत्वात् ॥४०॥

और, आसादन होमवाच्य नहीं है, अतः प्रयोगविधि नहीं है।

ग्राम्नायवचनं तद्वत् ॥४१॥

वैदिक वचन भी इसी बात की ओर संकेत करता है।

कर्तृभेदस्तथैति चेत् ॥४२॥

आक्षेप—जैसे अङ्गों में भेद होता है, वैसे ही कर्त्ताओं में भी भेद हो जाएगा, यदि ऐसा कहो तो—

न समवायात् ॥४३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि समवाय होने से अङ्गवत् कर्तृभेद नहीं होता। पञ्चत्व होने से कर्त्ता तन्त्र से होते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४४॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

वेदिसंयोगादिति चेत् ॥४५॥

आक्षेप—ग्रन्तर्वेदि और बह्वेदि के साथ कर्त्ता का सम्बन्ध होने से कर्तृभेद होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न देशमात्रत्वात् ॥४६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि देशमात्र का विधान होने से होता की स्थिति का ही कथन है।

एकाग्नित्वादपरेषु तन्त्रं स्यात् ॥४७॥

पूर्व०—अपराम्नीक होम’ एक अग्नि में होने से पत्नीसंयाज आदि अपराम्नीयों भी तन्त्र से अर्थात् एकसाथ होनी चाहिए।

नाना वा कर्तृभेदात् ॥४८॥

सि०—कर्त्ताओं में भेद होने से कर्म की आवृत्ति है।

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गं प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः श्रुतिसामान्यादारण्य-

वत्स्माद्ब्रह्मसाम्नि चोदनापृथक्त्वं स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—वाजपेययाग में परमात्मा का स्मरण करके जब पशुओं को छोड़ दिया जाता है, तब यागकर्म का भी उत्सर्ग हो जाता है, श्रुति के विधान से आरण्यवत्। इसी प्रकार ब्रह्मसाम में भी चोदना पृथक्त्व = कर्मान्तर होता है।

संस्कारप्रतिषेधो वा वाक्यैकत्वे ऋतुसामान्यात् ॥५०॥

सि०—एक वाक्य होने और ऋतुसामान्य होने से संस्कार कालमात्र का प्रतिषेध है।

वपानां चानभिधारणस्य दर्शनात् ॥५१॥

और, वपा के अनभिधारण के दर्शन होने से भी संस्कारों का प्रतिषेध होता है।

पञ्चशारदीयास्तथेति चेत् ॥५२॥

आक्षेप—प्राजापत्य के समान 'पञ्चशारदीय' नामक ऋतु में कर्म की अत्यन्त-निवृत्ति नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनैकवाक्यत्वात् ॥५३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अपूर्व कर्म का विधान है, अनेक गुण-विशिष्ट अपूर्व कर्मविधान में एकवाक्यता होने से।

संस्काराणां च दर्शनात् ॥५४॥

तथा, संस्कारों का श्रवण होने से भी दोनों अवस्थाओं में कर्म होना चाहिए।

दशपेये ऋप्रतिकर्षात्प्रतिकर्षस्ततः प्राञ्चां तत्समानं तन्त्रं स्यात् ॥५५॥

पूर्व०—'दशपेय' नामक एकाह (एक दिनवाले) याग में ऋम का प्रतिकर्ष होने से सोमऋय के पहले अङ्गों का भी प्रतिकर्ष है, अतः दोनों का समान तन्त्र है।

समानवचनं तद्वत् ॥५६॥

तन्त्र के समान होने से दशपेय और अभिषेचनीय—इन दोनों यज्ञों की समानता भी है।

अप्रतिकर्षो वाऽर्थहेतुत्वात्सहत्वं विधीयते ॥५७॥

सि०—प्रतिकर्ष नहीं है, विशेष प्रयोजन से दोनों के एकसाथ करने का विधान है।

पूर्वास्मिन्चावभूयस्य दर्शनात् ॥५८॥

पूर्व अर्थात् अभिषेचनीय में अवभृथ का दर्शन भी है।

दीक्षाणां चोत्तरस्य ॥५९॥

'दशपेय' की दीक्षाओं का पृथक् विधान है, अतः दोनों का सह-प्रनुष्ठान नहीं है।

समानः कालसामान्यात् ॥६०॥

ऋतुरूप काल की समानता होने से समानता उपपन्न होती है, अन्यथा दोनों यागों के अङ्गों का अनुष्ठान तो भेद से ही होता है।

निष्कास्यावभूथे तदेकदेशत्वात्पशुप्रदानविप्रकर्षः स्यात् ॥६१॥

पूर्व०—आमिक्षा का एकदेश होने से अवभृथ में निष्कास के प्रदान का विप्रकर्ष होता है, पशु के समान।

अपनयो वा प्रसिद्धेनाभिसंयोगात् ॥६२॥

सि०—प्रसिद्ध कर्म के साथ निर्देश होने से निष्कास का अपनय होता है, वह भिन्न कर्म है। प्रदान का विप्रकर्ष नहीं होता।

प्रतिपत्तिरिति चेन्न कर्मसंयोगात् ॥६३॥

अन्य शेषत्व होने से निष्कास (तुष) से अवभृथ का अनुष्ठान करना प्रतिपत्तिकर्म है, यदि ऐसा कहो तो, यह कथन ठीक नहीं, कर्म के विद्यमान होने से।

उदयनीय च तद्वत् ॥६४॥

पूर्व०—उदयनीय में भी प्रधान कर्म से तद्वत्=अवभृथ के समान अपूर्व कर्म मानना चाहिए।

प्रतिपत्तिर्वािकर्मसंयोगात् ॥६५॥

अथवा, प्रापणीयशेष प्रतिपत्तिरूप कर्म है, उसका निर्वाप के साथ सम्बन्ध होने से।

अर्थकर्म वा शेषत्वाच्छ्रपणवत्तदर्थेन विधानात् ॥६६॥

श्रपण के समान सप्तम्यन्त पद का अर्थ निर्वाप के लिए विहित होने से शेषत्व होने के कारण निष्कास में निर्वाप है, प्रतिपत्ति नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्बचनादन्यकालत्वम् ॥१॥

अङ्गकर्मों का अनुष्ठान प्रधान कर्म के साथ ही होता है (११.२.७.) परन्तु निर्देश होने पर उनका अनुष्ठान अन्य देश-काल आदि में भी हो सकता है।

द्रव्यस्याकर्मकालनिष्पत्तेः प्रयोगः सर्वार्थः स्यात्स्वकालत्वात् ॥२॥

वसन्तादिरूप स्वकाल में विहित होने से द्रव्य (आधान संस्कृतवर्द्धि) के अकर्म (प्रधानकर्म से भिन्न) काल में निष्पत्ति का प्रयोग सर्वार्थ (सबके लिए) होता है। इससे समस्त कर्मों के अर्थ में तन्त्र-आधान होता है, एक बार किया हुआ आग्याधान सब यज्ञों में काम आता है।

यूपश्चाकर्मकालत्वात् ॥३॥

अनुष्ठान के समय यूप की अनुपपत्ति होने से यूप तन्त्र होता है, क्योंकि वह सबके लिए होता है।

संस्कारास्त्वावतैरन्नर्थकालत्वात् ॥४॥

पूर्व०—पशु के नियोजन का अर्थकालत्व होने से यूप के प्रोक्षण, अञ्जन आदि संस्कारों की आवृत्ति होती है।

तत्कालास्तु यूपकर्मत्वात्तस्य धर्मविधानात्सर्वार्थानां च बचनादन्यकालत्वम् ॥५॥

सि०—संस्कारों का अपना काल होता है। वे दीक्षा के समय किये जाते हैं। यूप इनका कार्य होता है और ये यूप के धर्म के रूप में विधान किये गये हैं। यूप सर्वार्थ होता है, यूप में तन्त्रभाव है। विशेष निर्देश होने पर वे संस्कार भिन्न समय में भी किये जा सकते हैं।

सकृन्मानं च दर्शयति ॥६॥

और, सकृत्—एक बार मापने से भी यह सिद्ध होता है कि यूप में तन्त्रभाव है।

स्वस्तन्त्रापवर्गः स्यादस्वकालत्वात् ॥७॥

पूर्व०—अग्नीषोमीयतन्त्र से स्वस्त्व (वह पहली चीपटी जो यूप बनाते समय लकड़ी

काटने से निकलती है, इससे पशु को चुपड़ने का काम लिया जाता है) की समाप्ति है, क्योंकि स्वरु का अपना कोई स्वतन्त्र काल नहीं होता ।

साधारणो वाऽनुनिष्पत्तिस्तस्य साधारणत्वात् ॥८॥

सि०—जैसे समस्त पशुओं के लिए एक यूप होता है, वैसे ही स्वरु भी एक ही होना चाहिए ।

सोमान्ते च प्रतिष्पत्तिदर्शनात् ॥९॥

और, सोमयाग के अन्त में स्वरु की प्रतिष्पत्ति—फेंकने का दर्शन होने से भी यह सिद्ध होता है कि स्वरु (तीनों पशुओं के लिए) एक ही होता है ।

तत्कालो वा प्रस्तरवत् ॥१०॥

आक्षेप—जैसे प्रस्तर के प्रहरण में सोमान्त काल है, उसी प्रकार स्वरु का भी उतना ही काल है अर्थात् स्वरु की अवधि उतने काल तक है ।

न वोत्पत्तिवाक्यत्वात्प्रदेशात्प्रस्तरे तथा ॥११॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं । उत्पत्तिवाक्य होने से दर्शपूर्णमास में प्रस्तर-प्रहरण काल का विधान है, स्वरु-प्रहरण का नहीं ।

अहर्गणे विषाणाप्रासनं धर्मविप्रतिषेधादन्त्ये प्रथमे वाहनि विकल्पः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—अहर्गणयाग में खुजाने के लिए प्रयुक्त होनेवाले काले सींग को पहले या अन्तिम दिन विकल्प से फेंका जा सकता है, दोनों पक्षों में धर्म का लोप नहीं होता, क्योंकि उसे फेंकने का कोई विशेष विधान उपलब्ध नहीं है ।

पाणैस्त्वश्रुतिभूतत्वाद्विषाणानियमः स्यात्प्रातः सवनमध्यत्वान्छिन्दे

चाभिप्रवृत्तत्वात् ॥१३॥

सि०—सींग फेंकने में विकल्प नहीं है । सींग सभी दिनों में पास रहना चाहिए, क्योंकि याग के मध्य में निश्चित कालों में सींग से खुजाना होगा, हाथ से खुजाने का निषेध है, अतः दक्षिणादान के पश्चात् अन्तिम दिन ही सींग को फेंकना चाहिए ।

वाग्विसर्गो हविष्कृता बीजभेदे तथा स्यात् ॥१४॥

नाना बीजेषु (जिन यज्ञों में अनेक प्रकार के बीजों का प्रयोग होता है) में अन्तिम बार बीज कूटनेवाली हविष्कृत को बुलाने के पश्चात् वाग्विसर्ग करना (मीन तोड़ना) चाहिए ।

पशौ च पुरोडाशे समानतन्त्रं भवेत् ॥१५॥

इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशुयाग में जब पुरोडाश तैयार करनेवाली का आह्वान हो चुके तब मीन खोलना चाहिए ।

अनियोगः सोमकाले तदर्थत्वात् संस्कृतकर्मणः प्ररेषु साङ्गस्य तस्मात्सर्वापवर्गे

विमोकः स्यात् ॥१६॥

पूर्व०—सोमयाग में अग्निसंयोग (अग्नि से यज्ञ का सम्बन्ध जोड़ना) अङ्गसहित प्रषान के लिए होता है । आहुति से संस्कृत हुई अग्नि अङ्गों के लिए भी होने से अन्य अग्नि कार्यों के लिए भी है, अतः सब कर्मों की समाप्ति के पश्चात् उसका विमोक (अग्नि से यज्ञ के सम्बन्ध को तोड़ना) होना चाहिए ।

प्रधानापवर्गो वा तदर्थत्वात् ॥१७॥

सि०—यह अग्निविमोक कर्म प्रत्येक प्रधानकर्म के अन्त में होना चाहिए, क्योंकि यह प्रधान के लिए ही होता है ।

अवभृथे च तद्वत्प्रधानार्थस्य प्रतिषेधोऽपवृक्तार्थत्वात् ॥१८॥

इसी प्रकार अवभृथ में प्रधान याग का प्रतिषेध है, क्योंकि उद्देश्य की पूर्ति तो पहले ही हो जाती है, अतः प्रधानकर्म के अन्त में ही विमोक सिद्ध होता है ।

अहर्गणे च प्रत्यहं स्यात्तदर्थत्वात् ॥१९॥

अहर्गण द्वादशाह में तो प्रतिदिन अग्निसंयोग और अग्निविमोक करना पड़ता है, क्योंकि वह प्रधान के लिए होता है ।

सुब्रह्मण्या तु तन्त्रं दीक्षावदन्यकालत्वात् ॥२०॥

पूर्व०—द्वादशाह में उपसद के समय जो सुब्रह्मण्य का आह्वान है, उसमें तन्त्रभाव है । वह एक बार ही होना चाहिए दीक्षा के समान, क्योंकि इसका अपना अलग समय है ।

तत्कालत्वावर्तेत प्रयोगतो विशेषसम्बन्धात् ॥२१॥

सि०—सुत्याकाल में जो सुब्रह्मण्य का आह्वान है, उसमें तन्त्रभाव नहीं है, उसकी आवृत्ति बार-बार करनी पड़ती है, विशेष पद (अद्य) का संयोग होने के कारण ।

अप्रयोगाङ्गमिति चेत् ॥२२॥

आक्षेप—'अद्य' शब्द प्रयोग का अङ्ग नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात्प्रयोगनिर्देशात्कर्तृभेदवत् ॥२३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अद्य प्रयोग का अङ्ग है, प्रयोग का निर्देश होने से, कर्ता के भेद के समान ।

तद्भूतस्थानादग्निवदिति चेत्तदपवर्गस्तदर्थत्वात् ॥२४॥

एक बार आह्वान से संस्कृत देवता सर्वार्थ होता है, अतः उसका पुनः आह्वान नहीं होता इसलिए आवृत्ति नहीं होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक कर्म उसी के लिए होने से प्रधानकर्म में अग्निविमोक होता है ।

अग्निवदिति चेत् ॥२५॥

आक्षेप—जैसे अग्नि-आधान तन्त्र है, उसी प्रकार यहाँ भी है, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रयोगसाधारण्यात् ॥२६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सुब्रह्मण्य-आह्वान आधान के तुल्य नहीं है ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२७॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि सुब्रह्मण्य का आह्वान प्रतिदिन करना चाहिए ।

तद्धि तथेति चेत् ॥२८॥

आक्षेप—यूपाहुतिरूप कर्म तन्त्र है, उसी प्रकार यह भी तन्त्र है, यदि ऐसा कहो तो—

नाशिष्टत्वादितरन्यायत्वाच्च ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक तो इसका विधान नहीं है, दूसरे यहाँ इतर अग्निसंस्कार-न्याय ही उपयुक्त है।

विध्येकत्वादिति चेत् ॥३०॥

आक्षेप—द्वादशाहिक विधि तन्त्र-दृष्ट है और यह भी द्वादशाहिक विधि है, अतः विधि की सादृश्यता से यह भी वैसा ही होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न कृत्स्नस्य पुनः प्रयोगात् प्रधानवत् ॥३१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे प्रधानकर्म प्रतिदिन किये जाते हैं उसी प्रकार सोमाभिषव आदि अन्य सम्पूर्ण विधियाँ भी पुनः की जाती हैं, अतः आवृत्ति ही है।

लौकिकेषु यथाकामी संस्कारानर्थलोपात् ॥३२॥

पूर्व०—लौकिक पदार्थों (देश, कर्त्ता तथा पात्र) के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है, उनका इच्छानुसार उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि उनके यथेच्छ प्रयोग से संस्काररूप अर्थ का लोप नहीं होता।

यज्ञायुधानि धार्येन्प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत् ॥३३॥

सि०—यज्ञ के पात्रों को तो जीवनपर्यन्त धारण करना (काम में लाना) चाहिए, क्योंकि ऋजीष (साररहित सोम) की भाँति परिधानीय कर्म में उनकी प्रतिपत्ति का विधान है।

यजमानसंस्कारो वा तदर्थः श्रूयते तत्र यथाकामी तदर्थत्वात् ॥३४॥

पूर्व०—वे पात्र यजमान के संस्कार के लिए हैं, क्योंकि वे उसी के लिए श्रूयमाण होते हैं। उसके लिए होने से पात्रधारण में यजमान की इच्छा नियामक है।

मुख्यस्य धारणं वा मरणस्थानियतत्वात् ॥३५॥

सि०—मुख्य अथवा आद्य पात्र को धारण किये रहना चाहिए, क्योंकि मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है।

यो वा यजनीयेऽह्नि च्रियेत सोऽधिकृतः स्यादुपवेशवत् ॥३६॥

आक्षेप—जो यजमान यज्ञ के दिन ही मर जाए, वही इस संस्कार का अधिकारी होता है (उसी का शव पात्रों सहित जलाया जाना चाहिए) जैसे सामान्य यात्री को ही उपवेश का अधिकार होता है।

न शास्त्रलक्षणत्वात् ॥३७॥

समा०—उपवेश का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ शास्त्रलक्षण होता है, वहाँ पर असंयाजी का सम्भव नहीं होता।

उत्पत्तिर्वा प्रयोजकत्वादाशिरवत् ॥३८॥

संस्कार के प्रयोजक होने से मरते समय नये पात्र बनवा लेने चाहिएँ, आशिर-
वत् (जैसे आशिर के लिए नवीन गौ का दोहन होता है) ।

शब्दसामञ्जस्यमिति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—उस स्थिति में यज्ञपात्र शब्द का सामञ्जस्य कैसे होगा (क्योंकि यज्ञ
के सम्बन्ध से ही यज्ञपात्र होते हैं), यदि ऐसा कहे तो—

तथाऽऽशिरे ॥४०॥

उसी प्रकार आशिर में भी जो अन्य गौ ली जाती है, वह वृत्तशुक् नहीं होती,
यहाँ पर भी शब्द का असामञ्जस्य है ।

शास्त्रात्तु विप्रयोगस्तत्रैकद्रव्यचिकीर्षा प्रकृतावथेहापूर्वार्थवद् भूतोपदेशः ॥४१॥

समा०—वहाँ पर शास्त्र से शब्द का असामञ्जस्य है । प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम में
गौ के द्रव्य अर्थात् दूध को यजमान की इच्छा के कारण आशिर में दोहन करते हैं, परन्तु
यहाँ अपूर्व अर्थ की विधिवाले यज्ञ-सम्बन्धी पात्र का उपदेश है, अतः पात्रों का धारण ही
होता है ।

प्रकृत्यर्थत्वात्पौर्णमास्याः क्रियेरन् ॥४२॥

पूर्व०—पात्रों का धारण पौर्णमासी से आरम्भ होना चाहिए, क्योंकि वे पात्र
प्रकृति—पौर्णमासी के लिए ही होते हैं ।

अग्न्याधेये वाऽऽप्रतिषेधात्तानि धारयेन्मरणस्यानिमित्तत्वात् ॥४३॥

सि०—मृत्यु-समय के निश्चित न होने से उन पात्रों को अग्न्याधान से ही धारण
करना चाहिए, क्योंकि कोई प्रतिषेध नहीं है ।

प्रतिपत्तिर्वा यथान्येषाम् ॥४४॥

अथवा, जैसे अन्य द्रव्यों की अवमृथ में प्रतिपत्ति है, उसी प्रकार यज्ञपात्रों और
अग्नियों की भी यजमान के शरीर में प्रतिपत्ति है ।

उपरिष्ठात्सोमानां प्राजापत्यंश्चरन्तीति सर्वेषामविशेषादवाच्यो हि

प्रकृतिकालः ॥४५॥

वाजपेययाग में प्राजापत्याहुतियों को सब सोमाहुतियों के पश्चात् देना चाहिए,
क्योंकि कोई विशेष निर्देश नहीं है और प्रकृतिकाल आनुमानिक है ।

अङ्गविपर्यासो विना वचनादिति चेत् ॥४६॥

आक्षेप—कोई निर्देश न होने से अङ्गों का विपर्यास—क्रम का बाध होता है,
यदि ऐसा कहे तो—

उत्कर्षः संयोगात्कालमात्रमितरत्र ॥४७॥

समा०—संयोग होने से परिधि-अहरण का उत्कर्ष न्याय है, अन्य स्थान पर तो
केवल कालमात्र का बोध है ।

प्रकृतिकालासत्तेः शस्त्रघतामिति चेत् ॥४८॥

आक्षेप—प्रकृतिकाल की आसत्ति—समीपता होने से शस्त्रसोमों का ही
उपरिष्ठात् प्रचार युक्त होता है, यदि ऐसा कहे तो—

न श्रुतिप्रतिषेधात् ॥४६॥

समा०—श्रुति का बाध होने से उक्त कथन ठीक नहीं है ।

विकारस्थान इति चेत् ॥५०॥

आक्षेप—विकारस्थान (उक्त्य) में प्रचार हो जाएगा, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनापृथक्त्वात् ॥५१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सोमयाग और पशुप्रचार पृथक्-पृथक् कर्म हैं ।

उत्कर्षे सूक्तवाकस्य न सोमदेवतानामुत्कर्षः पश्वनङ्गत्वाद्यथा

निष्कर्षेऽनन्वयः ॥५२॥

पूर्व०—सूक्तवाक के उत्कर्ष में सोम देवताओं का उत्कर्ष नहीं होता, क्योंकि वे पशुयाग के अङ्ग नहीं हैं । जैसा कि पीर्णमासी देवताओं के निष्कर्ष में अमावास्या देवताओं का अनन्वय होता है ।

वाक्यसंयोगाद्दोत्कर्षः समानतन्त्रत्वादर्थलोपादनन्वयः ॥५३॥

सि०—सवनीय पुरोडाश में जब अनुयाजों का उत्कर्ष होता है, तब संयोग होने से सूक्तवाक में भी देवताओं का उत्कर्ष होता है । समान तन्त्र और अर्थलोप होने से अनन्वय होता है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

चोदनकत्वाद्वाजसूधेऽनुक्तदेशकालानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि ॥१॥

पूर्व०—एक ही प्रकार का विधान होने से राजसूय याग में जिन अङ्गों का देश और काल उक्त नहीं है, ऐसे अङ्गों का अनुष्ठान तन्त्र से होगा, क्योंकि फल की उत्पत्ति में उनका समवाय = सम्बन्ध है ।

प्रतिदक्षिणं वा कर्तृसम्बन्धादिष्टिवदङ्गभूतत्वात्समुदायो हि तन्निवृत्या

तदेकत्वादेकशब्दोपदेशः स्यात् ॥२॥

सि०—दक्षिणा का भेद होने से प्रत्येक दक्षिणा के साथ कर्त्ता का सम्बन्ध होता है, क्योंकि इन कर्मों में दक्षिणा-भेद श्रूयमाण है, अतः इष्टि के समान कर्त्ता के भेद से भाङ्गभेद होता है । फल की उत्पत्ति होने से समुदाय विवक्षित होता है, अतः उसका एक शब्द से उपदेश किया गया है ।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३॥

और, अन्य प्रमाणों से भी यही बात सिद्ध होती है कि राजसूययाग के अङ्गों का अनुष्ठान भेद से होगा, तन्त्रभाव से नहीं ।

अनियमः स्यादिति चेत् ॥४॥

आक्षेप—प्रत्येक दक्षिणा के साथ कर्त्ता का नियम नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

नोपदिष्टत्वात् ॥५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि समुदाय के लिए एक ही ऋत्विज के वरण करने का विधान है ।

लाघवातिपत्तिश्च ॥६॥

और, ऋत्विक् का एक ही बार वरण करने से कार्य में लाघव—सरलता भी आती है ।

प्रयोजनकत्वात् ॥७॥

प्रयोजन एक होने से भी एक ही बार ऋत्विक् का वरण होना उचित है ।

विशेषार्था पुनः श्रुतिः ॥८॥

पुनः श्रुति (दोबारा कहना) विशेष अर्थ को दिखलाने के लिए है ।

अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ॥९॥

पूर्व०—अवेष्टि नामक इष्टि में तन्त्रभाव होता है, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं ।

वचनात्कामसंयोगेन ॥१०॥

सि०—साक्षात् वचन (आदेश) होने से तथा कामना के साथ सम्बन्ध (११.४.२) कथित होने से अवेष्टि में तन्त्रभाव नहीं है । वे अलग-अलग करने होते हैं ।

ऋत्वार्थायामिति चेन्न वर्णसंयोगात् ॥११॥

यह इष्टि ऋत्वर्थ है, यदि ऐसा कहो तो—यह ठीक नहीं, ब्राह्मण आदि वर्णों का संयोग होने से । (राजसूय तो क्षत्रिय ही कर सकता है, परन्तु अवेष्टि को तीनों वर्णवाले कर सकते हैं ।)

पवमानहविष्वैकतन्त्र्यं प्रयोगवचनकत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—पवमान हवियों में एकतन्त्रता है, प्रयोगवचन एक होने से ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है ।

वचनात्तु तन्त्रभेदः स्यात् ॥१४॥

सि०—वचन से तन्त्रभेद होता है । (अन्याधान में जो तीन पवमान आहुतियाँ देनी होती हैं, उन्हें अलग-अलग ही देना चाहिए ।)

सहत्वे नित्यानुवादः स्यात् ॥१५॥

सहत्व में नित्यानुवाद होता है ।

द्वादशाहे तत्प्रकृतित्वादेकैकमहरपवृज्येत कर्मपृथक्त्वात् ॥१६॥

पूर्व०—द्वादशाह नामक याग में ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति के धर्म कर्तव्य होने से एक-एक कर्म दीक्षा और उपसद् सहित प्रति अह (दिन) समाप्त होता है, प्रत्येक कर्म भिन्न होने से ।

अह्नां वा श्रुतिभूतत्वात्तत्र साङ्गं क्रियते यथा माध्यन्दिने ॥१७॥

अथवा, अहों (दिनों) की द्वादश—बारह संख्या प्रत्येक श्रुत होने से प्रत्येक प्रधान याग अह्नों सहित किया जाना चाहिए, माध्यन्दिन के समान ।

अपि वा फलकर्तृसम्बन्धात् सह प्रयोगः स्यादान्नेयाग्नीषोमीयवत् ॥१८॥

अथवा, अङ्गों का सह-प्रयोग है, फल और कर्ता का सम्बन्ध होने से, आग्नेय और अग्नीषोमीय याग की भाँति ।

साङ्गकालश्रुतित्वाद्वा स्वस्थानां विकारः स्यात् ॥१९॥

सि०—अङ्गों (दीक्षा, उपसद्) सहित प्रधानों की कालश्रुति होने से स्वस्थान की वृद्धि है, स्वस्थानों का विकार होता है ।

तदपेक्षं च द्वादशत्वम् ॥२०॥

द्वादश (बारह) संख्या उन (दीक्षा, उपसद् और सुत्या) की अपेक्षा से है ।

दीक्षोपसदां च संख्या पृथक् पृथक् प्रत्यक्षसंयोगात् ॥२१॥

दीक्षा और उपसद् की संख्या अलग-अलग है, प्रत्यक्ष संयोग होने से ।

वसतीवरीपर्यन्तानि पूर्वाणि तन्त्रमन्यकालत्वादवभूयादीन्युत्तराणि

दीक्षाविसर्गार्थत्वात् ॥२२॥

इस प्रकार 'वसतीवरी' पर्यन्त पूर्वतन्त्र है, स्वकाल में विहित होने से और अवभृथ आदि उत्तरतन्त्र हैं दीक्षा-विसर्ग के लिए होने से ।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२३॥

दीक्षा, अह्न और उपसद् के साथ द्वादश का सम्बन्ध होने से अन्यार्थदर्शन भी उपपन्न हो जाता है ।

चौदनापृथक्त्वे त्वैकतन्त्र्यं समवेतानां कालसंयोगात् ॥२४॥

आग्नेय और अग्नीषोमीय याग में पृथक्-पृथक् विधान होने पर भी अङ्गों-सहित प्रधान की एकतन्त्रता है, एक काल का संयोग होने से ।

भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदे प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥२५॥

प्रधानकाल का भेद होने से उन-उन प्रधानों के प्रयोग में अङ्गों का भी भेद होता है, उनके प्रधानविधि से विधेय होने के कारण ।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२६॥

इस प्रकार से पत्नीसंयाजान्त अह्नों का अन्यार्थदर्शन भी उपपन्न होता है ।

श्वःसुत्यावचनं च तद्वत् ॥२७॥

'श्वःसुत्यावचनम्' यह लिङ्गवाक्य भी कर्मभेद में प्रमाण है ।

पशवतिरेकश्च ॥२८॥

और, पशु का अतिरेक (अन्तर) भी कर्मभेद को सूचित करता है ।

सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मण्यायां सर्वेषामुपलक्षणं प्रकृत्यन्वयावावाहनवत् ॥२९॥

पूर्व०—सुत्या-विवृद्धि में सुब्रह्मण्य=इन्द्र का आह्वान सब दिवसों का उपलक्षण है । ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति में चतुरादि संख्या का ब्रह्म में अन्वय होने से आवाहनवत् (जैसे आग्नेययाग में आह्वान की आवृत्ति है, वैसे ही यहाँ भी है) ।

अपि वेन्द्राभिधानत्वात्सकृत्स्यानुपलक्षणं कालस्य लक्षणार्थत्वाद्भिभागाच्च ॥३०॥

सि०—मन्त्र इन्द्रवाचक होने से उसका प्रयोग एक ही बार करना चाहिए और

कातवाचक चतुर-ग्रह प्रादि शब्द लक्षणार्थ होने तथा विभाग न होने से अकार से प्रयोग होता है ।

पशुगणे कुम्भीशूलवपाश्रपणीनां प्रभुत्वात्तन्त्रभावः स्यात् ॥३१॥

प्राजापत्य पशुयाग में कुम्भी, शूल और वपाश्रपणी का प्रभुत्व (कार्यक्षमत्व) होने से तन्त्रभाव होता है ।

भेदस्तु सन्देहाद्देवतान्तरे स्यात् ॥३२॥

पूर्व०—भिन्न-भिन्न देवताओं के कारण सन्देह होने से अलग-अलग पात्र होने चाहिए ।

अर्थाद्वा लिङ्गकर्म स्यात् ॥३३॥

सि०—सह-प्रयोग होने से भेद नहीं होता और एक ही पात्र होने पर उसपर कोई चिह्न लगा देना चाहिए ।

अयाज्यत्वाद्दसानां भेदः स्यात्स्वयाज्याप्रदानत्वात् ॥३४॥

पूर्व०—स्निग्ध द्रव्य से ऋग्विशेष-मन्त्रों का उच्चारण करके होम करने के कारण कुम्भीरूप पात्र के भेद बिना अयाज्य होने से भेद है (पृथक्-पृथक् पात्र होने चाहिए) ।

अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात् स्वत्वस्याभ्रुतिभूतत्वात् ॥३५॥

सि०—प्रतिपत्तिरूप कर्म होने से तन्त्ररूप ही कुम्भीपात्र है । 'स्व' सम्बन्धी कोई श्रुति नहीं है । स्वयाज्य अर्घ-ऋचा के अन्त में होतव्य है, इसके लिए कोई भी श्रुति नहीं है ।

सकृदिति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—यदि 'स्व' श्रुति नहीं है, 'तो एक ही बार' ऐसा बोलना अयुक्त है, यदि ऐसा कहे तो—

न कालभेदात् ॥३७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, काल का भेद होने से ।

जात्यन्तरेषु भेदः पक्षितवैधव्यात् ॥३८॥

भिन्न-भिन्न द्रव्यों के पाक में पात्रों का भेद होगा, क्योंकि सबके पकने का समय अलग-अलग है ।

वृद्धिदर्शनाच्च ॥३९॥

पात्रों की वृद्धि (अलग-अलग पात्र) होने के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं ।

कपालानि च कुम्भीवत्तुल्यसंस्थानाम् ॥४०॥

समान संख्यावाले पुरोडाशों के कपाल तन्त्र हैं, जैसे प्राजापत्यों में कुम्भीतन्त्र होता है ।

प्रतिप्रधानं वा प्रकृतिवत् ॥४१॥

सि०—प्रत्येक पुरोडाश के लिए अलग-अलग कपाल होना चाहिए, प्रकृति के समान ।

सर्वेषां चाभिप्रथनं स्यात् ॥४२॥

तन्त्रभाव होने पर सब कपालों में पुरोडाश का अभिप्रथन (फैलाना) असम्भव होने से पात्रों का भेद होता है ।

एकद्रव्ये संस्काराणां व्याख्यातमेककर्मत्वम् ॥४३॥

घ्रीहि आदि एक द्रव्य में अग्रहनन (कूटना) आदि संस्कार का एक कर्मत्व कह दिया गया है । जहाँ मन्त्र का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है, वहाँ उसकी आवृत्ति होती है और जहाँ मन्त्रार्थ एक ही है, वहाँ आवृत्ति निरर्थक है ।

द्रव्यान्तरे कृतार्थत्वात्तस्य पुनः प्रयोगान्मन्त्रस्य च तद्गुणत्वात् पुनः प्रयोगः

स्यात्तदर्थेन विधानात् ॥४४॥

राजसूयवाली नाना बीज-इष्टि में द्रव्य अलग-अलग होने से मन्त्र भी अलग-अलग पढ़े जाएंगे । प्रथम बीज में मन्त्र के कृतार्थ हो जाने से उसका पुनः प्रयोग होगा । अतिदेश-शास्त्र से विधान होने के कारण तथा तद्गुणत्व होने से मन्त्र का पुनः-पुनः प्रयोग होगा ।

निर्वपणलवणस्तरणाज्यग्रहणेषु च एकद्रव्यवत्प्रयोजनकत्वात् ॥४५॥

पूर्व०—दर्शपूर्णमास में निर्वपण (चार मुट्ठी अन्न निकालना), लवण (बहि को काटना), आस्तरण (फैलाना) और आज्यग्रहण (घी निकालने) में द्रव्य के समान तथा एक प्रयोजन होने से एक बार मन्त्रपाठ होना चाहिए ।

द्रव्यान्तरबद्धा स्यात्तत्संस्कारात् ॥४६॥

सि०—भिन्न-भिन्न बीज के अग्रहनन के समान संस्कार्य द्रव्य में भेद होने से मन्त्रों की आवृत्ति होती है, अर्थात् उपर्युक्त चारों कर्मों में मन्त्र बार-बार पढ़े जाएंगे ।

वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ॥४७॥

पूर्व०—वेदि के प्रक्षालन में मन्त्र की आवृत्ति होनी चाहिए, कर्म के पुनः-पुनः होने से ।

एकस्य वा गुणविधिर्द्रव्यैकत्वात्तस्मात्सकृत्प्रयोगः स्यात् ॥४८॥

सि०—वेदि का तीन बार प्रक्षालन (घोना) गोण विधि है, अतः मन्त्र एक ही बार पढ़ा जाएगा, क्योंकि वेदिरूप द्रव्य एक ही है ।

कण्डूयणे प्रत्यङ्गं कर्मभेदात् स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—अङ्गों के खुजाने में मन्त्र की आवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक अङ्ग को खुजाना एक भिन्न कर्म है ।

अपि वा चोदनेककालमेककर्म्यं स्यात् ॥५०॥

सि०—अङ्ग खुजाने का मन्त्र एक ही बार पढ़ा जाएगा, विधिकाल एक होने से यह एक ही कर्म है ।

स्वप्ननदीतरणाभिवर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रणेषु चैवम् ॥५१॥

इसी प्रकार स्वप्न, नदीतरण, अभिवर्षण तथा अमेध्य दर्शन में मन्त्र की अनावृत्ति है, मन्त्रपाठ एक ही बार होगा ।

प्रयाणे त्वार्थनिर्वृत्तेः ॥५२॥

दीक्षित मनुष्य के कहीं प्रस्थान करने पर मन्त्र एक ही बार बोला जाएगा ।

उपरवमन्त्रस्तन्त्रं स्याल्लोकवत् बहुवचनात् ॥५३॥

पूर्व०—उपरव (गढ़ा खोदने का) मन्त्र तन्त्रभाव से पढ़ा जाएगा, लौकिक व्यवहार के समान, बहुवचन होने के कारण ।

न सन्निपातित्वादसन्निपातिकर्मणां विशेषग्रहणे कालकत्वात्सकृत् वचनम् ॥५४॥

सि०—तन्त्रभाव नहीं होगा । प्रत्येक गढ़े को खोदते हुए मन्त्र बार-बार पढ़ना होगा । उपरवमन्त्र अनुष्ठेय क्रिया में सीधा सहायक है । जो कर्म क्रिया में सीधे सहायक नहीं होते वहीं तन्त्रभाव से कर्म होता है, काल की एकता होने के कारण ।

हविष्कृदग्निगुपुरोऽनुवाक्यामनोतस्यावृत्तिः कालभेदात्स्यात् ॥५५॥

हविष्कृत, अग्निगु-प्रैष, पुरोनुवाक्या और मनोता मन्त्रों की भी आवृत्ति होती है, काल का भेद होने से ।

अग्निगोश्च विपर्यासात् ॥५६॥

और, अग्निगु-प्रैष के मन्त्रों की तो विपर्यास के कारण भी आवृत्ति होती है ।

करिष्यद्वचनात् ॥५७॥

‘करिष्यत्’ (आरभष्वम्) इस वचन से भी अग्निगु-प्रैष की आवृत्ति सिद्ध होती है ।

॥ इतिपूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

द्वादशोऽध्यायः

प्रथमः पादः

ग्यारहवें अध्याय में तन्त्र का वर्णन हुआ। अब बारहवें अध्याय में 'प्रसङ्ग' का विवेचन होगा। एक स्थान पर किया गया कोई कार्य जब अन्य स्थान पर भी लाभदायक होता है (जैसे एक घर में जलाया हुआ दीपक जब बाहर सड़क पर भी प्रकाश करता है) तब उसे 'प्रसङ्ग' कहते हैं।

तन्त्रसमवाये चोदनातः समानामेकतन्त्रत्वमतुल्येषु तु भेदः स्यात्

विधिप्रक्रमतादर्घ्यात्तादर्थ्यं श्रुतिकालनिर्देशात् ॥१॥

प्रधान तन्त्रों के समवाय में एक देश, काल, कर्तृत्व होने पर विधिवाक्य से निर्दिष्टों का एक तन्त्र होता है और जो विभिन्न विधिबोधित कर्म हैं, वहाँ भेद होता है, क्योंकि श्रुति से प्रयोगारम्भ काल के भेद का निर्देश होने से अङ्गों के अनुष्ठान का क्रम तादर्थ्य होता है।

गुणकालविकाराच्च तन्त्रभेदः स्यात् ॥२॥

गुण और काल का विकार होने से भी तन्त्रभेद होता है।

तन्त्रमध्ये विधानाद्वा मुख्यतन्त्रेण सिद्धिः स्यात्तन्त्रार्थस्याविशिष्टत्वात् ॥३॥

सि०—एक मन्त्र के मध्य में विधान होने से मुख्य तन्त्र द्वारा सबकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि अर्थ की अविशिष्टता होती है।

विकाराच्च न भेदः स्यादर्थस्याविकृतत्वात् ॥४॥

और, अङ्गजनित उपकार के अविकृत होने से विकार के कारण भी भेद नहीं होगा।

एकेषां चाशक्यत्वात् ॥५॥

तथा, कुछ अङ्गों में भेद होने से अनुष्ठान ही नहीं सकता।

एकाग्निवच्च दर्शनम् ॥६॥

और, पशु तथा पुरोडाश का एकाग्निवत् दर्शन भी होता है।

जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः स्वतन्त्रप्रतिषेधः स्यात् ॥७॥

आचार्य जैमिनि के मत में परतन्त्रापत्ति (पर-तन्त्र की प्राप्ति होने) से स्वतन्त्र का प्रतिषेध होता है। (पाशुकतन्त्र पर-तन्त्र है, अतः पशुपुरोडाश में दो ब्राह्मणियाँ देनी चाहियें।)

नानार्थत्वात्सोमे दर्शपूर्णमासप्रकृतीनां वेदिकर्म स्यात् ॥८॥

पूर्व०—सोमयाग में जिसकी प्रकृति दर्शपूर्णमास है, उनके लिए अलग वेदि बनवानी चाहिए, भिन्न-फल होने से ।

अकर्म वा कृतदूषा स्यात् ॥९॥

सि०—अलग वेदि नहीं बनवानी चाहिए । अलग वेदि बनवाने से सौरिक वेदि दूषित हो जाएगी ।

पात्रेषु च प्रसङ्गः स्याद्वोमार्थत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—होम के ग्रह-चमस आदि पात्रों में 'प्रसङ्ग' से कार्य होना चाहिए, क्योंकि वे पात्र होम के लिए ही होते हैं ।

न्याय्यानि वा प्रयुक्तत्वादप्रयुक्ते प्रसङ्गः स्यात् ॥११॥

सि०—दर्शपूर्णमास के पात्रों का ज्योतिष्टोम में प्रयोग उचित है, क्योंकि वे पहले से ही प्रयोग में विद्यमान थे । उनका प्रयोग न होने पर ही वे प्रसङ्ग से प्रयुक्त हो सकते हैं ।

शामित्रे च पशुपुरोडाशो न स्यादितरस्य प्रयुक्तत्वात् ॥१२॥

शामित्र अग्नि में पशु-पुरोडाश का पाक नहीं होता, क्योंकि उसके लिए शालामुख्य (गार्हपत्य) अग्नि पहले ही तैयार होती है ।

अपणं चाग्निहोत्रस्य शालामुखीये न स्यात्प्राजहितस्य विद्यमानत्वात् ॥१३॥

तथा, अग्निहोत्र हविष् का पाक शालामुखी अग्नि में नहीं होगा, क्योंकि प्राज-हित (गार्हपत्य) अग्नि पहले से ही विद्यमान है ।

हविर्घनि निर्वपणार्थं साधयेतां प्रयुक्तत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—सोम के आधारभूत दो हविर्घानों (शकटों) से ही पुरोडाश का पाक करना चाहिए, क्योंकि वे निर्वाप के लिए ही हैं और पहले से ही प्रयुक्त हैं ।

अप्रसिद्धिर्वाज्यदेशत्वात्प्रधानवैगुण्यादवैगुण्ये प्रसङ्गः स्यात् ॥१५॥

सि०—हविर्घान नामक शकट में निर्वाप साधन की अप्रसिद्धि है, स्थान भिन्न होने से और प्रधान में वैगुण्य आने के कारण । विगुणता न होने पर ही उनका 'प्रसङ्ग' से प्रयोग हो सकता है ।

अनसां च दर्शनात् ॥१६॥

और, 'अनसाम्' (शकट) में बहुवचन होने से भी यही सिद्ध होता है कि (इन दोनों शकटों के प्रतिरिक्त) शकट होना चाहिए ।

तद्युक्तं च कालभेदात् ॥१७॥

और, प्रायणीय आदि दृष्टियों में दीक्षा-जागरण अलग-अलग होना चाहिए, क्योंकि वहाँ कालभेद है ।

मन्त्राश्च सन्निपातित्वात् ॥१८॥

तथा, वरुणप्रघास याग में दक्षिण-विहार में प्रतिप्रस्थाता को मन्त्र अलग-अलग बोलने चाहिए, क्योंकि वे समीप में उपकारक हैं ।

धारणार्थत्वात्सोमेऽग्न्यन्वाधानं न विद्यते ॥१६॥

सोम सम्बन्धी दीक्षणीय आदि में अग्नि-अन्वाधान नहीं होता, क्योंकि अग्न्याधान समाप्तिपर्यन्त धारण के लिए होता है।

तथा व्रतमुपेतत्वात् ॥२०॥

उसी प्रकार सोमयाग में प्रायणीय आदि इष्टियों में दर्शपूर्णमास सम्बन्धी व्रत भी नहीं लेने पड़ते, क्योंकि वे तो पहले ही लिए हुए होते हैं।

विप्रतिषेधाच्च ॥२१॥

और, विप्रतिषेध होने से भी व्रत धारण करने की आवश्यकता नहीं होती।

सत्यवदिति चेत् ॥२२॥

आक्षेप—सत्य बोलना व्रत की भाँति होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न संयोगपृथक्त्वात् ॥२३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, संयोग में भेद होने से।

ग्रहार्थं च पूर्वमिष्टेस्तदर्थत्वात् ॥२४॥

और देवता परिग्रह के लिए अग्नि-अन्वाधान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दीक्षणीय : ि के लिए है।

शेषवदिति चेत् ॥२५॥

आक्षेप—अङ्ग-देवता के लिए ऐष्टिक-अन्वाधान होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न वैश्वदेवो हि ॥२६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वैश्वदेव पद समग्र देवता के लिए प्रयुक्त होने से अङ्गदेवता भी उसी में आ जाता है।

स्याद्व्यपदेशात् ॥२७॥

आक्षेप—ऐष्टिक अन्वाधान करना चाहिए, क्योंकि उनका भेद से कथन किया गया है।

न गुणार्थत्वात् ॥२८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह वर्णन तो केवल स्तुति के लिए है।

सन्नहञ्च वृत्तत्वात् ॥२९॥

पत्नीसंनहन (यजमान पत्नी को वस्त्र पहनाना) भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह पहले ही हो चुका है, अतः यहाँ भी 'प्रसङ्ग' लागू होगा।

अन्यविधानादारण्यभोजनं न स्यादुभयं हि वृत्यर्थम् ॥३०॥

दर्शपूर्णमास में अरण्य (वन की वस्तुओं का) भोजन और सोमयाग में ब्राह्मण का पयोव्रत—ये दोनों ही जीवन धारण के लिए होते हैं, अतः अन्य विधान होने के कारण अरण्य भोजन नहीं करना चाहिए, विधिवाक्य से प्राप्त होने पर भी।

शेषभक्षास्तथेति चेन्नान्यार्थत्वात् ॥३१॥

इडा-भक्ष आदि की भी उसी प्रकार निवृत्ति होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, वह तो होना, क्योंकि उस भक्षण का उद्देश्य भिन्न है, वह वृत्यर्थ = जीवन-धारण के लिए नहीं होता।

भूतत्वाच्च परिक्रयः ॥३२॥

और, दर्शपूर्णमास में अन्वाहार्य दक्षिणा भी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उनका परिक्रय पहले ही कर लिया गया है।

शेषभक्षास्तथेति चेत् ॥३३॥

आक्षेप—अन्वाहार्य की भाँति शेषभक्षकी भी निवृत्ति है, यदि ऐसा कहो तो—
न कर्मसंयोगात् ॥३४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, कर्मवाचक द्वितीया विभक्ति का प्रयोग पाये जाये से शेषभक्ष होगा (परन्तु परिक्रय=पारिश्रमिक के रूप में नहीं)।

प्रवृत्तवरणात्प्रतितन्त्रं वरणं होतुः क्रियेत ॥३५॥

कार्यारम्भ होने के पश्चात् वरण होने से प्रत्येक इष्टि में होताओं का वरण होगा।

ब्रह्मापीति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—ब्रह्मा का भी प्रत्येक इष्टि में वरण होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—
न प्राङ्नियमात्तदर्थं हि ॥३७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मा का वरण पहले होता है। वरण के पश्चात् ब्रह्मा का कर्म होता है, वह कार्यार्थ ही है।

निर्दिष्टस्येति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—ब्रह्मा के द्वारा अन्वावास्या से पहले दिन वेदि बनाने का निर्देश है, अतः ब्रह्मा भी प्रवृत्त (कार्यारम्भ के पश्चात्) वरण होता है, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतत्वात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि परिग्रह का विधान श्रुत नहीं है।

होतुस्तथेति चेत् ॥४०॥

आक्षेप—वरण से पूर्व ब्रह्मा की भाँति होता का भी कोई कार्य नहीं होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात् ॥४१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वरण से पूर्व होता का सामिधेनीय कर्म से संयोग होता है।

यज्ञोत्पत्त्युपदेशे निष्ठितकर्मप्रयोगभेदात्प्रतितन्त्रं क्रियेत ॥४२॥

पूर्व०—आतिथ्या इष्टि में जो प्रोक्षण आदि कर्म किये जाते हैं, वे भिन्न प्रयोजन होने से प्रत्येक प्रयोग में अलग-अलग करने चाहिए।

न वा कृतत्वात्तदुपदेशो हि ॥४३॥

सि०—नहीं, प्रतिप्रयोग आवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि वे प्रोक्षण आदि तो पहले ही किये जा चुके हैं। यह भी उपदेश है कि आतिथ्या के लिए काटा हुआ बर्हि उपसर्गों और अग्नीषोमियों में भी काम आता है।

देशपृथक्त्वान्मन्त्रोऽभ्यावर्तते ॥४४॥

देश-पृथक्त्व (भिन्न-भिन्न देश) होने से मन्त्र की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए।

सन्नहनहरणे तथेति चेत् ॥४५॥

आक्षेप—सन्नहन (बहि को बांधने) और हरण (बहि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाने) से मन्त्रों की आवृत्ति करनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नान्यार्थत्वात् ॥४६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। इन मन्त्रों के पाठ अलग-अलग नहीं होंगे। इनमें 'प्रसङ्ग' नियम लागू होगा, क्योंकि स्तरण कर्म तो अलग-अलग हैं, परन्तु सन्नहन और हरण तो साभे की चीज हैं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यास्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

विहारो लौकिकानामर्थं साधयेत् प्रभुत्वात् ॥१॥

पूर्व०—विहार (गाहंपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) अग्नि-लौकिक कर्मों को भी सिद्ध कर सकती है, क्योंकि उसमें सामर्थ्य है।

मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥२॥

उसी प्रमाण से विहार-अग्नि में मांस पकाने का भी निषेध है। लौकिक पाक में ही मांस का प्रसङ्ग है, वैदिक कर्मों में नहीं।

निर्देशाद्वा वैदिकानां स्यात् ॥३॥

सि०—विहार-अग्नि में केवल वैदिक कर्म ही करने चाहिए, लौकिक कर्म नहीं। आरम्भ में ही यह निर्देश दे दिया जाता है कि ये अग्नियाँ केवल यज्ञ के लिए हैं।

सति चोपासनस्य दर्शनात् ॥४॥

विहार-अग्नि के विद्यमान होने पर भी 'ओपासन' अग्नि का भी दर्शन होता है। इससे यह भी सिद्ध है कि विहार-अग्नि लौकिक कर्मों के लिए नहीं है, यज्ञ के लिए ही है।

अभावदर्शनाच्च ॥५॥

मांस आदि अपवित्र वस्तुओं का विहार-अग्नि में अभाव दर्शन होने से भी यही सिद्ध होता है कि ये अग्नियाँ लौकिक कर्मों के लिए नहीं हैं।

मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्याद् वाऽऽहुतिसंयोगात् ॥६॥

अथवा, यज्ञ के साथ सम्बन्ध होने के कारण जिह्वा के स्वाद के लिए मांसपाक का सख्त विरोध है।

वाक्यशेषो वा दक्षिणास्मिन्नारभ्यविधानस्य ॥७॥

अथवा, यह 'दक्षिणास्मिन्' इस अनारम्भ विधान का वाक्यशेष है।

१. यज्ञ एक ऐसा कर्म है जिसमें मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र का भी उपकार होता है, अतः जिह्वा के स्वाद के लिए पशुओं को मारकर पकाना यज्ञ की भावना के सर्वथा प्रतिकूल ही है।

सवनीये छिद्रापिधानार्थत्वात् पशुपुरोडाशो न स्यादन्येषामेवमर्थत्वात् ॥८॥

पूर्व०—सवनीय में पशुपुरोडाश नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तो यज्ञ में होने-वाले दोषों को दूर करने के लिए होता है और यह कार्य अन्य पुरोडाशों से सम्पन्न हो जाता है।

क्रिया वा देवतार्थत्वात् ॥९॥

सि०—पशुपुरोडाश करना चाहिए, क्योंकि वह देवता के संस्कार के लिए होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी इसी अर्थ को सिद्धि होती है।

हविष्कृत्सवनीयेषु न स्यात्प्रकृतौ यदि सर्वार्थां पशुं प्रत्याहृता सा

कुर्याद्विद्यमानत्वात् ॥११॥

सवनीय पशुपुरोडाश में हविष्कृत् (हवि वनानेवाली) का आह्वान नहीं होगा, क्योंकि वह पशुयाग में ग्राह्य थी। वहाँ विद्यमान होने से वह सब कार्य सम्पन्न कर देगी, क्योंकि प्रकृति में सब कार्यों के सम्पादन के लिए उसका आह्वान किया गया था।

पशौ तु संस्कृते विधानात्तार्तीयसवनिकेषु स्यात्सौम्याश्विन-

योश्चापवृषतार्थत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—संस्कृत-पशु में हविष्कृत् का विधान होने से तार्तीय-सवन के पुरोडाशों और सौम्याश्विनो में भेद होने से हविष्कृत् का आह्वान होता है। उस समय में पाशुकी हविष्कृत् कृतार्थ होने से अपवृत्त होती है।

योगाद्वा यज्ञाय तद्विमोके विसर्गः स्यात् ॥१३॥

सि०—तृतीय सवन के पुरोडाश में हविष्कृत् का आह्वान नहीं होता, क्योंकि हविष्कृत् तो यज्ञ की समाप्ति तक वहाँ रहती है। व्रत की समाप्ति के पश्चात् ही उसका विमोक = छुटकारा होता है।

निशि यज्ञे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः स्यात्प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—निशियज्ञ में अमावास्या तन्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि यह इष्टि प्रत्यक्षशिष्ट = उपदिष्ट है।

कालवाक्यभेदाश्च तन्त्रभेदः स्यात् ॥१५॥

तथा, काल और वाक्यभेद से तन्त्रभेद होता है।

वेद्युद्धननश्रतं विप्रतिषेधात्तदेव स्यात् ॥१६॥

वेदि-खनन और व्रतग्रहण दर्शेष्टि के समान ही होंगे, अन्यथा होने से विप्रतिषेध = वैगुण्यता हो जाएगी।

तन्त्रमध्ये विधानाद्वा तत्तन्त्रा सवनीयवत् ॥१७॥

सि०—तन्त्र के मध्य में विधान होने से काम्येष्टि दर्श-तन्त्रवाली है, सवनीय-पुरोडाश के समान।

द्वैगुण्यादिष्मावर्हिर्न साधयेदग्न्याधानं च यदि देवतार्थम् ॥१८॥

निशियाग में दर्शेष्टि के सभी कृत्य प्रसङ्ग-नियम से लागू होते हैं परन्तु इष्म और

बाँह दोनों नये लाने होंगे तथा अग्नि-अन्वाधान भी अलग से करना होगा, क्योंकि निशियाग का देवता अलग है ।

आरम्भणीया विकृतौ न स्यात्प्रकृतिकालमध्यत्वात्कृता पुनस्तदर्थेन ॥१९॥

पूर्व०—आरम्भणीया इष्टि विकृति सौर्यादि में नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास के काल में पड़ती है, अतः इसका पहले ही अनुष्ठान हो चुका है । इसे दोबारा करने की आवश्यकता नहीं है । अथवा एक बार आरम्भ-संयोग होने से वह एकारम्भ यावज्जीवन प्रयुक्त होता है ।

स्याद्वा कालस्याशेषभूतत्वात् ॥२०॥

सि०—सौर्यादि विकृतियाग में आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए, क्योंकि विहित जो जीवनकाल है, वह प्रकृति का अङ्ग नहीं है ।

प्रारम्भविभागाच्च ॥२१॥

और, आरम्भ का विभाग होने से भी विकृतियों में आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए ।

विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ॥२२॥

पूर्व०—जिन प्रधान यागों का अनुष्ठान एक साथ होता है, यदि उनके धर्मों में विरोध हो तो उन्हीं धर्मों का अनुष्ठान होगा जिनका सबसे अधिक यागों में सादृश्य होगा ।

मुख्यं वा पूर्वोदनाल्लोकवत् ॥२३॥

सि०—प्रधानकर्म के धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिए, लोकव्यवहार के समान, क्योंकि वह पूर्वपठित है ।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२४॥

तथा, ऐसा मानने पर अन्य प्रमाण भी संगत हो जाते हैं ।

अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात् ॥२५॥

और, जब प्रधान के धर्म तथा अङ्ग के धर्म विरुद्ध हों तो अनुष्ठान प्रधान के ही अनुकूल होगा, क्योंकि अङ्ग प्रधान के लिए ही होते हैं ।

परिषिद्धं चर्यत्वादुभयधर्मा स्यात् ॥२६॥

परिधि में दोनों (परिधि और यूप) के धर्म घटित होते हैं, अतः परिधि उभय—दोनों धर्मोवाली है ।

यौप्यस्तु विरोधे स्यान्मुख्यानन्तर्यात् ॥२७॥

पूर्व०—जहाँ परिधि और यूप के धर्मों में विरोध हो वहाँ यूप के धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि वह मुख्य के समीप है ।

इतरो वा तस्य तत्र विधानात् ॥२८॥

सि०—वस्तुतः परिधि के धर्मों का अनुष्ठान होगा, पशु-नियोजन (पशु को बाँधना) परिधि में विहित होने से ।

उभयोश्चाङ्गसंयोगः ॥२६॥

और, दोनों पक्षों का अङ्ग के साथ सम्बन्ध है, अतः परिधि के घर्मों का अनुष्ठान होगा।

पशुसवनीयेषु विकल्पः स्याद्वेकृतश्चेदुभयोरश्रुतिभूतत्वात् ॥३०॥

पूर्व०—सवनीय पशु में और सवनीय पुरोडाश में 'प्रसङ्ग' से विकल्प होता है। दोनों में अङ्गों का श्रवण न होने से, वे अतिदेश से प्राप्त होते हैं, अतः विकल्प है।

पाशुकं वा तस्य वैशेषिकाग्नात्तदनर्थकं विकल्पे स्यात् ॥३१॥

सि०—पशु-सम्बन्धी प्रयोग तन्त्री है, विशेष आम्नान=विधान होने से। विकल्प होने पर वह आम्नान निरर्थक हो जाएगा।

पशोश्च विप्रकर्षस्तन्त्रमध्ये विधानात् ॥३२॥

और, पशु के तन्त्र का विप्रकर्ष होने से तन्त्र के मध्य में पुरोडाशों का विधान युक्त होता है। सवनीय पशु और सवनीय पुरोडाश में मुख्य है पशु, अतः उसी के घर्म प्रसङ्ग-नियम से पुरोडाश में भी लागू होंगे, विकल्प नहीं है।

अपूर्वं च प्रकृतौ समानतन्त्रा चेदनित्यत्वादनर्थकं हि स्यात् ॥३३॥

जहाँ प्रकृति और विकृति के तन्त्र समान हों वहाँ विकृति के तन्त्र ही मानने होंगे, क्योंकि नैमित्तिक इच्छा नित्यकर्म की इच्छा को बांध लेती है।

अधिकश्च गुणः साधारणोऽविरोधात्कांस्यभोजिवदमुख्येऽपि ॥३४॥

साधारण में कोई विरोध न होने पर मुख्य न हो तो भी अधिक गुण का ग्रहण करना चाहिए कांस्यभोजनवत् (कांस्य-पात्र में भोजनव्रत पालनेवाले शिष्यादि के समान)। आग्रयण याग में केवल प्रसूनमय बर्हि का ही ग्रहण करना चाहिए।

तत्प्रवृत्या तु तन्त्रस्य नियमः स्याद्यथा पाशुकं सूक्तवाकेन ॥३५॥

पूर्व०—प्रसून-बर्हि के नियम की प्रकृति होने से धावा-पृथिवी तन्त्र का नियम है, जैसे सूक्तवाक मन्त्र की प्रवृत्ति से पाशुक तन्त्र का नियम है।

न वाऽविरोधात् ॥३६॥

इतरेतर हवियों से यह घर्म अविच्छेद है, अतः तन्त्र का नियम लागू नहीं होता।

अशास्त्रलक्षणान्च ॥३७॥

और, शास्त्र में भी ऐसा कोई विधान नहीं है, अतः तन्त्र का कोई नियम नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

विश्वजिति वत्सत्वङ् नामधेयादितरथा तन्त्रभूयस्त्वादहत्तं स्यात् ॥१॥

पूर्व०—विश्वजित् नामक याग में वत्सत्वक् पहनने का विधान है, क्योंकि उसका नाम कथन किया गया है। अथवा अहन (दिनों) के भूयस्त्व=अधिक होने से अतिदेश-

शास्त्र द्वारा ग्रह (नये वस्त्र) की प्राप्ति है। यहाँ विकल्प नहीं होगा, नामधेय से प्राप्त वस्तुत्वक् (कोई वस्त्र-विशेष) ही पहनी जाएगी।

अविरोधो वा उपरिवास्तो हि वस्तत्वक् ॥२॥

सि०—दोनों में कोई विरोध न होने से दोनों का समुच्चय होगा, न बाध होगा और न विकल्प। वस्तत्वक् उपरिवस्त्र के रूप में पहना जाएगा।

अनुनिर्वाप्येषु भूयस्त्वेन तन्त्र नियमः स्यात् ॥३॥

पूर्व०—अनुनिर्वाप्य हविष में ग्रहन-भूयस्त्व से पुरोडाश तन्त्र की प्रसक्ति होनी चाहिए।

आगन्तुकाद्वा स्वधर्मा स्यात् श्रुतिविशेषादितरस्य च मुख्यत्वात् ॥४॥

सि०—श्रुतिविशेष से अनुनिर्वाप्य आगन्तुक (गीण) होते हैं। पशुपुरोडाश मुख्य है, अतः पशुपुरोडाश के ही तन्त्र का अनुष्ठान करना चाहिए।

स्वस्थानत्वाच्च ॥५॥

और, पशुपुरोडाश स्वस्थान में होने से भी पशुपुरोडाश का तन्त्र करना चाहिए।

स्विष्टकृच्छ्रद्वयान्तेति चेत् ॥६॥

आक्षेप—स्विष्टकृत का श्रवण होने से पुरोडाश को तन्त्र भाव नहीं हो सकता, यदि ऐसा कहो तो—

विकारः पवमानवत् ॥७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। वचन से विकार हो जाएगा। पवमानरूप गुण-विधान के समान प्रकृति में भी गुण-विधान है।

अविकारो वा प्रकृतिवच्चोदनां प्रति भावाच्च ॥८॥

अथवा, यहाँ विकार का विधान नहीं है, प्रकृतिवत् अतिदेश होने से अस्विष्ट-कृतवाला वचन करना चाहिए। चोदना=विधान के प्रति भाव होने से स्विष्टकृत वचन है।

एककर्मणि शिष्टत्वाद्गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥९॥

एक कर्म—यज्ञ में अनेक गुणों का विधान होने पर सब गुणों का समुच्चय होना चाहिए।

एकार्थस्तु विकल्पेर्न समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य ॥१०॥

यदि सारे गुणों का प्रयोजन एक ही तो गुणों का विकल्प होगा, क्योंकि समुच्चय आगने पर प्रधान कर्म की आवृत्ति माननी पड़ेगी।

अभ्यस्येतार्थवत्त्वादिति चेत् ॥११॥

आक्षेप—उपयोगी होने के कारण प्रधान की भी आवृत्ति होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतित्वात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान की आवृत्ति का श्रुति में विधान

सति चान्यासशास्त्रत्वात् ॥१३॥

और, जहाँ आवृत्ति करने की आवश्यकता है वहाँ शास्त्र में विधान दिया हुआ है।

विकल्पवच्च दर्शयति ॥१४॥

तथा, शास्त्र में एक ऐसा भी निर्देश है, जो विकल्प को सूचित करता है।

कालान्तरेऽयं वत्त्वं स्यात् ॥१५॥

विकल्प कालान्तर में सफल प्रयोजनवाला होता है।

प्रायश्चित्तेषु चकार्यार्थान्निष्पन्नेनाभिसंयोगस्तस्मात्सर्वस्य निर्घातः ॥१६॥

अनेक प्रायश्चित्तों में एक प्रयोजन होने से विकल्प होता है। एक प्रयोजन से उत्पन्न होनेवाले निमित्त के साथ प्रायश्चित्त का सम्बन्ध होता है, अतः एक ही प्रायश्चित्त के अनुष्ठान से सब दोषों का नाश हो जाता है, समुच्चय नहीं होता।

समुच्चयस्त्वदोषो निर्घातार्थेषुः ॥१७॥

जो प्रायश्चित्त दोषों के निर्घात—नाश के लिए नहीं होते, अपितु निमित्तवाले प्रायश्चित्त हैं, वहाँ समुच्चय होता है।

मन्त्राणां कर्मसंयोगात्स्वधर्मेण प्रयोगः स्याद्धर्मस्य तन्निमित्तत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—मन्त्रों का सम्बन्ध कर्म के साथ होने से मन्त्रों का स्वधर्म के साथ ही प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि पाठरूप धर्म पठन के लिए ही होता है।

विद्यां प्रतिविधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात्कर्तव्यत्वात् प्रयोगस्य ॥१९॥

सि०—अनध्याय (पाठ न करने) का विधान केवल विद्याध्ययन के लिए है, यज्ञ के लिए नहीं। यज्ञ में तो सभी दिनों में पाठ हो सकता है, क्योंकि मन्त्रों का प्रयोजन यज्ञकर्मों के अनुष्ठान के लिए ही है।

भाषास्वरूपदेशेषु ऐरवत्प्रवचनप्रतिषेधः स्यात् ॥२०॥

पूर्व०—भाषिक स्वर के उपदेश से प्रावचन स्वर का प्रतिषेध होता है, जैसे 'इरा' पद के उपदेश से 'गिरा' पद का निषेध होता है।

मन्त्रोपदेशो वा न भाषिकस्य प्रायापत्तेर्भाषिकश्रुतिः ॥२१॥

सि०—यह उपदेशमन्त्र का ही होता है, भाषिक स्वर का नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो भाषिक स्वर दिया गया है, वह तो एकरूपता के कारण है।

विकारः करणाग्रहणे ॥२२॥

किसी कारण का ग्रहण होने से 'इरा' पद से 'गिरा' पद का विकार युक्त ही है।

तन्मायत्वाददृष्टोऽप्येवम् ॥२३॥

पूर्व०—पिर तो इसी व्याप्त से मन्त्रकाण्ड (वेद) में द्रष्टव्य मन्त्रों में भी प्रावचन स्वर होता चाहिए।

तदुत्पत्तर्वा प्रवचनलक्षणत्वात् ॥२४॥

सि०—जो मन्त्र केवल ब्राह्मणग्रन्थों में ही मिलते हैं, और भाषिक स्वर में ही मिलते हैं, उन्हें भाषिक स्वर से ही पढ़ना चाहिए।

मन्त्राणां करणार्थत्वान्मन्त्रान्तेन कर्मादिसन्निपातः स्यात्सर्वस्य

वचनार्थत्वात् ॥२५॥

मन्त्र क्रिया को करने के लिए होने से मन्त्रपाठ पूरा होने के पश्चात् कर्म आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि पूरा मन्त्र समस्त अर्थ को बतलाता है।

सन्ततवचनाद्वारायामादिसंयोगः ॥२६॥

पूर्व०—बसोधारा में मन्त्रपाठ के साथ ही क्रिया आरम्भ होनी चाहिए, 'सन्तत' (एकसाथ) शब्द के विद्यमान होने से।

कर्मसन्ततानो वा नानाकर्मत्वादितरस्याद्वाक्यत्वात् ॥२७॥

सि०—'बसोधारा' में कर्मों को एकसाथ करने का विधान है, मन्त्रों के साथ क्रिया का विधान नहीं, क्योंकि कर्म अनेक हैं। तथा क्रिया और मन्त्रों का सन्तत संयोग असम्भव है। ('बसोधारा' में बारह मन्त्र पढ़े जाने के पश्चात् ही क्रिया आरम्भ होनी चाहिए।)

ब्राह्मारे च दीर्घधारत्वात् ॥२८॥

ब्राह्मर में भी दीर्घधारा होने से सन्तत शब्द का संयोग है, कर्म तो मन्त्र के अन्त में ही शब्द है।

मन्त्राणां सन्निपातित्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात् ॥२९॥

यदि कई मन्त्र एक ही यज्ञ के कारण हों तो विकल्प से कोई एक मन्त्र पढ़ना पर्याप्त है, मन्त्रों का समुच्चय नहीं होगा।

संख्यातवहितेषु समुच्चयोऽस्मिन्निपातित्वात् ॥३०॥

परन्तु मन्त्रों की संख्या विहित होने पर मन्त्रों का समुच्चय होगा, क्योंकि उन सबसे ही कर्म होगा।

ब्राह्मणविहितेषु च संख्यावत् त्वेताद्युपदिष्टत्वात् ॥३१॥

पूर्व०—फिर तो ब्राह्मणग्रन्थों में विहित सब मन्त्रों का भी समुच्चय होना चाहिए, सबका उपदेश होने से संख्यावत्।

याच्चावष्टकारयोश्च समुच्चयदर्शनं तद्वत् ॥३२॥

और, जैसे याज्या और वषट्कार में समुच्चय दर्शन होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समुच्चय है।

विकल्पो वा समुच्चयस्याश्रुतित्वात् ॥३३॥

सि०—ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ विनियोग में कई मन्त्र दिये हों, वहाँ विकल्प होता है, क्योंकि समुच्चय का श्रवण नहीं है।

गुणार्थत्वादुपदेशस्य ॥३४॥

और, ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक मन्त्रों का उपदेश गुणार्थक (विवरण के लिए) है, अन्व-प्राप्त्यर्थ नहीं है।

वषट्कारे नानार्थत्वात्समुच्चयः ॥३५॥

वषट्कार के दृष्टान्त में भिन्न-प्रयोजन होने से समुच्चय है।

होत्रास्तु विकल्पेरन्नेकार्थत्वात् ॥३६॥

पूर्व०—होत्र-मन्त्रों में विकल्प होना चाहिए, क्योंकि वे सब एक प्रयोजनवाले होते हैं ।

समुच्चयो वा क्रियमाणानुवादित्वात् ॥३७॥

सि०—होत्र-मन्त्रों में समुच्चय है, क्योंकि ये करण-मन्त्र नहीं हैं, अपितु क्रियमाण कर्म के अनुवादक हैं ।

समुच्चयं च दर्शयति ॥३८॥

और, शास्त्र से भी वही सिद्ध होता है कि होत्र-मन्त्रों में समुच्चय है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

जपाश्चाकर्मसंयुक्ताः स्तुत्याशीरभिधानाच्च याजमानेषु समुच्चयः

स्यादाशीः पृथक्त्वात् ॥१॥

कर्म प्रकाशक-लिङ्ग से शून्य होने के कारण दजमान द्वारा प्रयुक्त जप, स्तुति, आशी और अभिधान (बुलाने) के मन्त्रों का समुच्चय है, क्योंकि आशी आदि कर्म पृथक्-पृथक् हैं ।

समुच्चयं च दर्शयति ॥२॥

और, शास्त्र-वचन भी समुच्चय ही बताते हैं ।

याज्यानुवादयासु तु विकल्पः स्वाद्देवतोपलक्षणार्थत्वात् ॥३॥

एन्द्रवाहस्पत्यलिगिक अनेक याज्यानुवादका और पुरोवास्या युगलों का विकल्प होना चाहिए, क्योंकि वे देवता के स्मरण के लिए हैं ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

तथा प्रमाण उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

ऋणेषु तु विकल्पः स्यादेकार्थत्वात् ॥५॥

पूर्व०—सोम ऋय करनेवाले द्रव्यों में विकल्प होता है, क्योंकि उन सबका प्रयोजन एक है ।

समुच्चयो वा प्रयोगे द्रव्यसमवायात् ॥६॥

सि०—प्रयोग में द्रव्यों का समवाय होने से समुच्चय ही है ।

समुच्चयं च दर्शयति ॥७॥

और, शास्त्रवचन से भी समुच्चय सिद्ध होता है ।

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥८॥

संस्कार में उसकी प्रधानता होने से भी समुच्चय ही है ।

संख्यासु तु विकल्पः स्यात् श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥९॥

संख्या के श्रवण में विरोध होने से संख्याओं में विकल्प होता है ।

द्रव्यविकारं तु पूर्ववदर्थकर्म स्यात्तथा विकल्पे नियमः प्रधानत्वात् ॥१०॥

और, द्रव्यविकार में पूर्व अधिकरण के समान विकल्प ही तथा विकल्प में नियम है। प्रधानत्व होने से समुच्चय नहीं है, विकल्प ही है।

द्रव्यत्वेऽपि समुच्चयो द्रव्यस्य कर्मनिष्पत्तेः प्रतिपशु कर्मभेदादेवं सति
यथाप्रकृति ॥११॥

पूर्व०—द्रव्य होने पर भी समुच्चय होना चाहिए, क्योंकि होम-द्रव्य की उत्पत्ति कर्म से होती है। प्रतिपशु कर्म का भेद होने से समुच्चय है। इस प्रमाण से प्रकृति के समान होना योग्य है।

कपालेऽपि तथेति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—सब तो कपाल में भी समुच्चय मानना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—
न कर्मणः परार्थत्वात् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि कर्म परार्थ होता है।

प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—शेषत्व होने से प्रतिपत्ति है, अतः समुच्चय होता है।

शृतेऽपि पूर्ववत्त्वात्स्यात् ॥१५॥

आक्षेप—शृत (पके हुए दूध) में भी पूर्व की भाँति प्रतिपत्ति है।

विकल्पे त्वर्थकर्म नियमप्रधानत्वात् शेषे च कर्मकार्यसम-
वायात्तस्मात्तेनार्थकर्म स्यात् ॥१६॥

समा०—विकल्प में नियमप्रधानत्व होने से अर्थकर्म—विकल्प होता है और शेष में कर्मकार्य के समवाय से अर्थकर्म होता है, अतः विकल्प ही है, प्रतिपत्ति नहीं है।

उल्लायां काम्यनित्यसमुच्चयो नियोगे कामदर्शनात् ॥१७॥

पूर्व०—उल्ला में काम्य और नित्य अग्नियों का समुच्चय है, क्योंकि अग्नि के नियोजन (अग्नि को प्रज्वलित रखने) में काम—इच्छा का दर्शन प्राप्त होता है।

असति चासंस्कृतेषु कर्म स्यात् ॥१८॥

और, यदि समुच्चय न माना जाए तो असंस्कृत-अग्नि में कर्म करना पड़ेगा।

तस्य च देवतार्थत्वात् ॥१९॥

तथा, वह अग्नि (नित्य-अग्नि) देवता के लिए होती है, अतः समुच्चय है।

विकारो वा तदुक्तहेतुः ॥२०॥

सि०—नित्य-अग्नि और काम्य-अग्नि का समुच्चय इष्ट नहीं है। नित्य-अग्नि का काम्य-अग्नि से विकार होगा, इसके हेतु पहले (३.६.१०) ही दे दिये गये हैं।

वचनावसंस्कृतेषु कर्म स्यात् ॥२१॥

निर्देश होने से असंस्कृत-अग्नियों में भी कर्म हो सकता है।

संसर्गो चापि दोषः स्यात् ॥२२॥

समुच्चय होने पर प्रादाव्य और वैकारिक अग्नियों के संसर्ग में दोष श्रूयमाण होता है ।

वचनादिति चेत् ॥२३॥

ब्राह्मेप—वचन होने से संसर्ग है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्यान् ॥२४॥

समा०—उक्त वचन ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रमाण से अन्य पक्ष में भी वचन है ।

उत्सर्गोऽपि परिग्रहः कर्मणः कृतत्वात् ॥२५॥

नित्य-अग्नि (जो देवता के लिए है, सूत्र १६, उस) के परित्याग करने पर भी कोई दोष नहीं आता, क्योंकि कर्म तो पहले ही निष्पन्न हो चुका है ।

स ब्राह्मवनीयः स्यादाहुतिसंयोगात् ॥२६॥

पूर्व०—काम्य-अग्नि को ब्राह्मवनीय मानना चाहिए, क्योंकि इसका आहुति के साथ संयोग है ।

अन्यो बोद्धव्याऽऽहरणात् ॥२७॥

सि०—काम्य-अग्नि ब्राह्मवनीय अग्नि नहीं है, क्योंकि यह अग्नि निकाली गई और लाई गई है ।

तस्मिन्संस्कारकर्म शिष्टत्वात् ॥२८॥

पूर्व०—उस वैकारिक अग्नि में आधान आदि संस्कार कर्म करने चाहिए, क्योंकि उनका विधान किया गया है, वह सब कर्मों के लिए विहित है ।

स्थानाद्वा परिलुप्येरन् ॥२९॥

सि०—असंस्कृत-अग्नि संस्कृत-अग्नि के स्थान में होने से आधानादि संस्कारों का उसमें लोप है ।

नित्यधारणे विकल्पो न ह्यकस्मात्प्रतिषेधः स्यात् ॥३०॥

पूर्व०—उखा अग्नि के नित्यधारण में विकल्प है, क्योंकि बिना कारण के प्रतिषेध नहीं हो सकता ।

नित्यधारणाद्वा प्रतिषेधो गतश्रयः ॥३१॥

सि०—नित्यधारण होने से गतश्री-अग्नि के लिए प्रतिषेध है ।

परार्थान्येको यजमानगणे ॥३२॥

यजमानों के गण में जो परार्थ = दूसरे के लिए कर्म हैं, उन्हें कोई भी यजमान विकल्प से कर सकता है ।

अनियमोऽविशेषात् ॥३३॥

अहीन-ऋतु में 'शुक्रस्पर्श' कोई भी यजमान कर सकता है, क्योंकि कोई विशेष नियम नहीं है ।

मुख्यो वाऽविप्रतिषेधात् ॥३४॥

अथवा, मुख्य यजमान को ही सत्र में 'धुक्त्पर्या' करना चाहिए, क्योंकि इस विषय में कोई प्रतिषेध नहीं है।

सत्रे गृहपतिरसंयोगाद्धौत्रवत् ॥३५॥

पूर्व०—सत्र में अर्ञ्जन और अम्पञ्जन संस्कार गृहपति को ही करना चाहिए, हौत्र के समान, क्योंकि अन्य यजमानों का उसके साथ सम्बन्ध नहीं है।

धाम्नायवचनाच्च ॥३६॥

गृहपति ही इन संस्कारों को करे, क्योंकि ऐसा करने से गृहपति की समृद्धि होती है। इस विषय में धास्त्रप्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

सर्वे वा त्वर्थत्वात् ॥३७॥

सि०—सभी यजमानों को इन संस्कारों को करना चाहिए, क्योंकि वे सभी के लिए हैं।

गृहपतिरिति च समाख्या सामान्यात् ॥३८॥

श्रीर. 'गृहपति' समाख्या है। गृहपति का प्रयोग समानरूप से सभी यजमानों के लिए है।

विप्रतिषेधे परम् ॥३९॥

विरोध होने पर जो 'पर' होता है, उसी में कार्य होता है। (जहाँ यजमान तथा ऋत्विज—दोनों का कार्य एकसाथ कराना होता है, वहाँ ऋत्विजों का ही कार्य होता है।)

हौत्रे परार्थत्वात् ॥४०॥

हौत्र में कर्म परार्थ ही होता है।

वचनं परम् ॥४१॥

जो धाम्नाय वचन कहा है, वह केवल अर्थवाद है।

प्रभुत्वादात्त्विक्यं सर्ववर्णानां स्यात् ॥४२॥

पूर्व०—सामर्थ्य होने से ऋत्विक्कर्म सभी वर्णवाले कर सकते हैं।

स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम् ॥४३॥

सि०—स्मृति के प्रमाण से ब्राह्मण-वर्ग को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

फलचमसविषाज्चेतरेषाम् ॥४४॥

फलचमस का विधान होने से क्षत्रिय और वैश्य को ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार नहीं है।

सान्नाय्येऽप्येवं प्रतिषेधः सोमपीयहेतुत्वात् ॥४५॥

सोमपायी न होने के कारण भी क्षत्रिय और वैश्य का सान्नाय्य में भी प्रतिषेध है, अतः क्षत्रिय और वैश्य को ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार नहीं है।

चतुर्धाकरणे च निर्वेसात् ॥४६॥

चतुर्धाकरण (पुरोडाश को चार भागों में बाँटने) में भी ब्राह्मण का ही निर्वेस होने से भी ब्राह्मण को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

अन्वाहार्ये वर्धनात् ॥४७॥

अन्वाहार्यं दक्षिणा में भी ब्राह्मण का ही अधिकार होने से भी ब्राह्मण को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तं खेवं मीमांसादर्शनम् ॥

मीमांसादर्शनम्

सूत्र-अनुक्रमणिका

सूत्र	*अध्याय, पाद, सूत्र	सूत्र	अध्याय, पाद, सूत्र
अंसशिरोनूक	१०-७-६	अग्नेर्वा स्याद्	६-१-२७
अकर्मक्रतुसंयु	३-४-१२	अग्नेः कर्मत्व	५-३-२८
अकर्म चोर्ध्वमा	६-८-१४	अग्न्यङ्गमप्रकरणे	३-६-३५
अकर्मणि चाप्रत्य	६-३-१०	अग्न्यतिघ्राहस्य	१०-८-२३
अकर्मत्वात् नैवं	६-१-४६	अग्न्याधेयस्य नैमि	१०-३-३०
अकर्म वा चतुर्भि	१०-२-५	अग्न्याधेये वाऽ	११-३-४३
अकर्मा वा संसर्गार्थं	१०-२-१२	अग्रहणादिति चेत्	१०-७-३०
अकार्यत्वाच्च ततः	६-७-४	अङ्गगुणविरोधे च	११-२-२५
अकार्यत्वाच्च नाम्नः	१०-३-७	अङ्गवत्क्रतूनामानु	५-३-३२
अकार्यत्वाच्च षब्दा	६-२-१०	अङ्गविधिवर्षा निमित्त	६-४-३१
अक्तत्वाच्च जुह्वां	३-५-७	अङ्गविपर्यायो विना	११-३-४६
अक्रतुयुक्तानां वा	१०-८-१३	अङ्गहीनश्च तद्धर्मा	६-१-४१
अक्रिया वा अपूपहेतु	१०-१-५०	अङ्गानां तु शब्द	११-१-५
अगुणा च कर्मचोदना	२-३-६	अङ्गानां तूपघात	४-३-३६
अगुणे तु कर्मशब्दे	२-२-२४	अङ्गानां मुख्यकाल	५-१-४६,
अग्निधर्मः प्रतीष्टकं	६-१-२६	अङ्गानि तु विधान	११-३-१
अग्नियोगः सोम	११-३-१६	अङ्गे गुणत्वात्	११-२-७
अग्निवदिति चेत्	११-३-२५	अङ्गेषु च तद्भावः	४-३-२३
अग्निहोत्रे चाशेष	११-१-५०	अङ्गेषु स्तुतिः	११-२-३
अग्निस्तु लिङ्गदर्श	२-३-२१	अचेत्तनेऽर्थबन्ध	४-३-१६
अग्नीधश्च वनिष्टु	१०-७-१७	अचोदकाश्च संस्काराः	१-२-३५
अग्नीषोमविधानात्	१०-८-५६	अचोदना गुणार्थेन	२-२-१८
			३-६-२७

* पहली संख्या अध्याय, दूसरी संख्या पाद, तीसरी संख्या सूत्र की है।

अचोदनेति चेत्	११-२-३४	अधिकारादिति चेत्	६-१-१८
अचोदितं च कर्म	३-४-३०	अधिकाराद्वा प्रकृति	८-३-६
अजाभिकरणार्थं	१०-८-६२	अधिकारे च मन्त्र	३-२-२०
अतत्संस्कारार्थं	६-४-४५	अध्युघ्नी होतु	१०-७-१२
अतद्गुणत्वात्	६-७-१६	अग्निगुः सवनीषेषु	६-३-२४
अतद्विकारश्च	५-३-११	अग्निगोश्च विपर्या	११-४-५६
अतद्विकाराच्च	६-५-४७	अध्वर्युर्वा तदर्था	३-८-२०
अतिथौ तत्प्रधान	६-१-१०	अध्वर्युर्वा तन्न्याय	३-७-४७
अतुल्यत्वात् नैव	३-२-३५	अध्वर्युस्तु दर्शनात्	३-८-२३
अतुल्यात्तु वाक्य	२-२-२६	अनन्तरं व्रतं तद्	५-३-२२
अतुल्यत्वादसमान	३-८-८	अनपायश्च कालस्य	१०-८-६८
अतुल्याः स्युः	१०-३-५५	अनपेक्षत्वात्	१-१-२१
अभ्याषेयस्य हानं	६-१-४३	अनभ्यासस्तु वाच्य	११-१-३७
अथ विशेषलक्ष	८-१-१	अनभ्यासे पराक्	१०-५-४५
अथातः ऋत्वर्थ	४-१-१	अनभ्यासो वा छेदन	११-१-३६
अथातः शेषलक्षण	३-१-१	अनर्थकं च तद्वचनम्	२-१-२६
अथातो धर्मजिज्ञासा	१-१-१	अनर्थकं त्वनित्यं	६-८-२६
अथान्येनेति संस्था	५-३-३६	अनर्थकश्च कर्मसंयोगे	६-४-३६
अदक्षिणत्वाच्च	१०-६-५६	अनर्थकश्च सर्वनाशे	६-४-१६
अद्रव्यं चापि दृश्यते	७-२-१४	अनर्थकश्चोपदेशः	३-२-२२
अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः	२-३-२०	अनवानोपदेशश्च	६-२-१६
अद्रव्यत्वात्तु शेषः	३-४-२१	अनसां च दर्शयति	१२-१-१६
अद्विर्वचनं वा श्रुति	२-४-१६	अनाम्नाते दर्शनात्	१०-८-२१
अधर्मत्वमप्रदान	६-४-३३	अनाम्नातेष्वमन्त्र	२-१-३४
अधिकं च विवर्णं	६-२-३६	अनाम्नादशब्द	६-३-२६
अधिकं वाऽन्यर्थत्वात्	१०-४-१३	अनिज्यां च वनस्पते	६-४-५५
अधिकं वा प्रतिप्रसवात्	६-७-१६	अनिज्या वा शेषस्य	१०-७-४६
अधिकं वाऽर्थवत्वात्	१०-७-२७	अनित्यत्वात्तु नैवं	२-४-५, ६-१-४०
अधिकं वा स्यादिति	१०-७-५६	अनित्यदर्शनाच्च	१-१-२८
अधिकं वा स्याद्बह्वर्थ	६-७-२४	अनित्यसंयोगात्	१-२-६
अधिकश्च गुणः	१२-२-३४	अनित्यसंयोगान्म	१-२-३६
अधिकश्चैक वाक्य	१०-४-४	अनियमः स्यादिति	११-४-४
अधिकानाञ्च दर्श	१०-५-३१	अनियमोऽन्यत्र	५-१-३
अधिकारश्च सर्वेषां	११-१-२१		

अनियमोऽविक्रमोऽन्तरं	६-७-२३,	अन्यायस्याचोदि	६-३-१५
	१०-३-४६, १२-४-३३	अन्यार्था वा पुनः	२-३-२६
अनियमो वार्थान्तरं	६-८-३६	अन्यार्थेनाभिस्म्बन्धः	६-२-८
अनिरुप्तेऽभ्युदिते	६-५-१६	अन्येन वतच्छास्त्रा	६-४-१६
अनिर्देशाच्च	६-४-४४	अन्येनापीति चेत्	६-६-७
अनुग्राहाच्च जोह	४-१-४७	अन्ये स्युक्तत्वजः	१०-६-५१
अनुग्राहाच्च पाद	६-७-२०	अन्यो वा स्यात्	३-७-२०
अनुत्तरार्थो वाऽर्थं	८-४-१५	अन्यो बोद्धव्या	१२-४-२७
अनुत्पत्तौ तु कालः	४-३-३६	अन्वयं चापि दर्शयति	६-२-३६
अनुनिर्वाप्येषु	१२-३-३	अन्वयो वाऽर्थवादः	६-२-३८
अनुप्रसर्पिषु सामा	३-५-५२	अन्वाहार्ये दर्शनात्	१२-४-४७
अनुमानव्यवस्थानात्	१-३-१५	अन्वाहेति च	१०-४-३७
अनुवषट्काराच्च	८-२-२	अपदेशः स्यादिति	१०-६-४७
अनुवादश्च तदर्था	६-१-२२	अपदेशो वाऽर्थस्य	३-४-२
अनुवादो वा दीक्षा	६-१-३१	अपनयस्त्वेकदेश	३-८-३३
अनूषङ्गो वाक्य	२-१-४८	अपनयनाद्वा पूर्वं	३-२-३०
अन्ते तु नादरायण	५-२-१६	अपनयनो वा विद्य	६-५-२
अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात्	५-३-६	अपनयो वाऽपान्तरं	६-४-४१
अन्ते यूपाद्दृतिस्त	११-२-२५	अपनयो वाऽऽधान	५-४-१६
अन्ते वा कृतकाल	१०-६-२८	अपनयो वा प्रवृत्त्या	६-५-११
अन्ते वा तदुक्तम्	५-३-६	अपनयो वा प्रसिद्धे	११-२-६२
अन्ते स्युरव्यवायात्	५-३-१७	अपराघात्कर्तुश्च	१-२-१३
अन्त्यमरेकार्थे	३-५-१२	अपराघेऽपि च	६-२-१७
अन्त्ययोर्योथो	१-२-१८	अपरिमिते शिष्टे	६-७-२१
अन्नप्रतिषेधा	३-४-१६	अपवृत्ते तु चोदना	४-३-४१
अन्यतरतोऽति	८-२-२६	अपाकृते तद्विकारा	६-२-४८
अन्यदर्शनाच्च	१-३-३२	अपाकृतेन हि	६-५-१६
अन्यविधानादारण्य	१२-१-३०	अपि तु कर्मशब्दः	७-२-१३
अन्यश्चार्थः प्रतीयते	२-१-२७	अपि तु वाक्यशेषः	१०-८-४
अन्यस्यापीति चेत्	६-२-७	अपि तु वाक्यशेषत्वा	१०-८-१५
अन्या अपीति चेत्	-५-३३	अपि त्वन्याय	६-३-१२
अन्यानर्थक्यात्	१-२-४	अपि त्ववयवार्थं	१०-३-६४
अन्यायश्चानेक	१-३-२६	अपि त्वसन्निपाति	६-४-६
अन्यायस्त्वविकारेण	६-३-१०	अपि वाऽङ्गभनिज्याः	४-४-२

अपि वाऽतद्विकार	८-१-२५	अपि वा परिसंख्या	१०-७-७
अपि वाऽन्यानि	६-६-३४	अपि वा पौर्णमास्यां	१०-८-५४
अपि वाऽन्याय	७-४-५	अपि वा प्रतिपत्ति	११-४-३५
अपि वाऽन्यार्थ	६-१-२८	अपि वा प्रतिमन्त्र	१०-३-२६
अपि वाऽप्येकदेशे	६-३-२	अपि वा प्रयोगसा	२-१-३१
अपि वाऽभिधान	१०-१-२	अपि वा फलकर्तृ	११-४-१८
अपि वाऽर्थस्य	६-३-४१	अपि वा यजति श्रुते	८-२-२५
अपि वाऽव्यतिरेका	६-३-१२	अपि वा यजमानाः	१०-६-५२
अपि वाऽह्मणे	१०-५-७८	अपि वा यद्यपूर्वं	७-१-१६
अपि वाऽऽख्याविकार	१०-४-५७	अपि वा लौकिके	२-८-२१
अपि वाऽऽग्नेयवद्	१०-७-२५	अपि वा विहितत्वा	१०-८-४३
अपि वाऽऽज्यप्रधान	१०-४-५६	अपि वा वेदतुल्य	६-२-२३
अपि वाऽऽम्नानानसा	४-३-११	अपि वा वेदनिर्देशाद्	६-१-३३
अपि वा ऋतृसामा	१-३-२	अपि वा शब्दपूर्वं	६-१-६
अपि वा कर्मपृथक्	११-२-१४	अपि वा शुभमाजां	६-४-३
अपि वा कर्मवैषम्यात्	१०-३-५४	अपि वा शेषकर्म	६-७-६
अपि वा कामसंयोगे	६-२-६	अपि वा शेषभूत	१०-१-११,
अपि वा कारणाग्रहणे	१-३-७, ४-१-५		१०-१-२३
अपि वा कालमात्रं	४-४-६	अपि वा श्रुतिभूतत्वा	१०-३-७५
अपि वा कृत्स्नसंयोगा	६-६-१०,	अपि वा श्रुतिभेदात्	३-७-२२
	६-७-३६	अपि वा श्रुतिसंयोगात्	२-१-२४
अपि वा ऋत्वभावाद	६-८-५	अपि वा संख्यावत्त्वा	१०-५-५६
अपि वा क्रमकाल	५-१-२०	अपि वा संप्रयोगे	११-१-२४
अपि वा क्रमसंयोगाद्	२-४-३१	अपि वा सद्द्वितीये	३-३-४०
अपि वा गायत्री	५-३-१४	अपि वा सर्वत्रकर्मणि	७-३-५
अपि वाङ्गानि	४-४-३०	अपि वा सर्वघर्मः	१-३-१६
अपि वा चोदनैक	११-४-५०	अपि वा सर्वसंख्या	५-३-२
अपि वा तदधिकारा	६-७-३२,	अपि वेन्द्राभि	११-४-३०
	१०-३-६७	अपि वोत्पत्तिसंयोगा	४-२-३०,
अपि वा दानमात्रं	१०-७-१५		६-२-२
अपि वा द्विरुत्तत्वा	३-६-४४	अपूर्वं च प्रकृतौ	१२-२-३३
अपि वा द्विसमवायो	६-३-३५	अपूर्वतां तु दर्शयेद्	१०-७-३३
अपि वा धर्मविशेषात्	१०-५-६३	अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम्	६-४-११
अपि वा नामधेयं	१-४-२	अपूर्वत्वाद्ब्यवस्था	६-१-१४

अपूर्वत्वाद्भिधानं	६-५-५	अभ्यासे च तदभ्या	१०-६-२६
अपूर्वव्यपदेशाच्च	१०-१-४३	अभ्यासेन तु संख्या	१०-५-२७
अपूर्वासु तु संख्यासु	१०-५-१४	अभ्यासोऽकर्मशेष	६-२-२४
अपूर्वं च विकल्पः	८-३-२५	अभ्यासो वाऽधिकारा	६-४-१४
अपूर्वं चार्थवादः	१०-८-५	अभ्यासो वा प्रयाज	११-१-३३
अपूर्वं त्वविकारो	६-३-२२	अभ्युदये काला	६-५-१
अपूर्वं वापि भागि	७-३-२	अभ्युदये दोहा	६-४-३६
अप्रकरणे तु तद्धर्म	३-४-२०	अभ्युहस्योपरिपा	१०-१-५६
अप्रकरणे तु यच्छा	१०-८-१७	अयक्ष्यमाणस्य	५-४-८
अप्रकृतत्वाच्च	२-२-१५	अयज्ञवचनाच्च	१०-५-३६
अप्रमाणाच्छब्दा	६-१-५४	अयनेषु चोदना	२-३-५
अप्रतिकर्षो वा	११-२-५७	अयाज्यत्वाद्भासानां	११-४-३४
अप्रतिषेधो वा दर्शना	१०-७-३६	अयोनी घापि	७-२-१८
अप्रतिषेधो वा प्रति	१०-७-४५	अर्थकर्म वाऽभिधान	४-२-२१
अप्रयोगाङ्गमिति	११-३-२२	अर्थकर्म वा कर्तृ	४-२-१७
अप्रयोजकत्वादे	३-४-४२	अर्थकर्म वा शेषत्वा	१०-२-६६
अप्रसिद्धिर्वाऽय	१२-१-१५	अर्थकारिते च द्रव्येण	६-१-१२
अप्राकृतत्वान्मैत्रा	१०-७-१८	अर्थकृते चानुमानं	५-१-६
अप्राप्ता चानुप	१-२-६	अर्थद्रव्यविरोधे	६-३-३६
अप्राहाणे च दर्शनात्	१०-७-८	अर्थप्राप्तवदिति	१०-८-२
अभक्षो वा कर्म	१०-७-२३	अर्थभेदस्तु तत्रार्थे	११-१-६
अभागिप्रतिषेधाच्च	१-२-५	अर्थलोपादकर्म स्यात्	३-१-६
अभावदर्शनाच्च	४-१-३६, १२-२-५	अर्थवांस्तु नैक	११-१-३३
अभावाच्चेतरस्य	६-५-१६	अर्थवादश्च तदर्थत्वात्	६-४-४६
अभावादतिरात्रेषु	१०-५-५३	अर्थवादश्च तदर्थवत्	४-४-२४, ४-७-२५
अभिधारणे विप्र	४-१-३३	अर्थवादोपपत्तेश्च	२-३-१७, ४-४-१६
अभिधानं च कर्म	२-१-२८	अर्थवादो वा	१-२-४३
अभिधानेऽर्थवादः	१-२-४६	अर्थवादो वोऽनुप	३-४-२६
अभिधानोपदेशाद्वा	७-३-३६	अर्थवादो वाऽर्थस्य	५-३-२४
अभ्यस्येत्तार्थवत्	१२-३-११	अर्थवादो वा प्रकरणात्	३-४-८
अभ्यासः सामिवेनी	६-१-३३	अर्थवादो वा विधिज्ञेय	६-७-३०
अभ्यासात्तु प्रधानस्य	१०-३-२४	अर्थविप्रतिषेधात्	१-२-३६
अभ्यासेनेतराः	६-२-२०	अर्थसमवायात्प्राय	६-४-१०
अभ्यासेऽपि तथेति	६-४-२		

अर्थस्तु विधिशेष	१-२-२६	अवदानामिधारणा	५-४-२
अर्थस्य चासमाप्तत्वा	८-३-३६	अवमृथे च तद्वत्	११-३-१८
अर्थस्य त्वविभक्त	७-१-६	अवमृथे प्रधाने	११-२-२८
अर्थस्य व्यपवर्गित्वा	६-३-५	अवमृथे बहिषः	१०-७-४७
अर्थस्य शब्दभाव्य	७-१-१२	अवशिष्टं तु कारणं	४-४-३२
अर्थाच्च	२-१-४२, ५-१-२	अवाक्यशेषाच्च	१-३-१३
अर्थात्तु लोके विधिः	११-१-६१	अवाच्यत्वात्	११-२-४०
अर्थाद्वा कल्पनैकदेश	१-४-३०	अवाच्यत्वान्नेति	१०-४-३६
अर्थाद्वा लिङ्गकर्म	११-४-३३	अविकारमेकेऽनार्थ	६-३-४
अर्थानां च विभक्त	६-६-१४	अविकारो वा प्रकृति	१२-३-८
अर्थान्तरे विकारः	६-३-४५	अविकारो वाऽर्थ	१०-४-२५
अर्थापत्तेर्ब्रव्येषु	७-४-१८	अविकारो वा बहूना	६-३-३३
अर्थापत्तेस्तद्धर्मः	१०-३-३५	अविज्ञेयात्	१-२-३८
अर्थापरिमाणाच्च	६-४-३६	अविद्यमानवचनात्	१-२-३४
अर्थाभावात्तु नैवं स्यात्	६-६-१३	अविद्यमानात्तु नैवं	११-१-३
अर्थाभावात्तु नैवं स्याद्	६-३-१६	अविधिरुचेत्कर्मणा	११-२-२
अर्थाभावे संस्कार	१०-२-७१	अविभागाच्च शेष	३-५-१७
अर्थाभिधानकर्म च	४-१-२६	अविभागात्तु कर्मणो	२-३-२८
अर्थाभिधानसंयोगः	६-१-३६	अविभागात्तु नैवं	७-१-५
अर्थाभिधानसाम	३-२-१	अविभागादिषानार्थ	१-४-२०
अर्थोऽपीति चेत्	४-२-१२	अविरुद्धं परम्	१-२-४४
अर्थे त्वश्रूयमाणे	१०-४-१५	अविरुद्धोपपत्ति	१०-१-३०
अर्थे समवैषम्यमतो	४-१-२१	अविरोधो वा उपरि	१२-३-२
अर्थे स्तुतिरन्या	१-२-२८	अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः	१-२-४०
अर्थेन च विपर्यासे	१०-२-७१	अविशेषात्तु शास्त्रस्य	४-१-४
अर्थेन च समवेतत्वात्	१०-४-१५	अविशेषात्स्तुति	३-३-२६
अर्थेन त्वपकृष्यते	२-१-१४	अविशेषान्नेति चेत्	१०-५-२८
अर्थेनेति चेत्	३-६-२३	अविशेषेण यच्छा	१०-८-१६
अर्थैकत्वादेकं वाक्यं	२-१-४६	अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं	११-४-६
अर्थैकत्वाद्विकल्पः	६-२-२६, ३०	अवेष्टः। ज्ञसंयो	२-३-३
अर्थैकत्वे द्रव्यगुण	३-१-१२	अवैद्यत्वादभावः	६-१-३७
अर्थो वा स्यात्	६-१-१३	अव्यक्तासु तु सोम	८-१-१६
अर्थकीर्णपशुश्च	६-८-२२	अव्यवायाच्च	५-१-३१
अर्थाचनाच्च स्वशब्द	६-४-४०	अज्ञातौ ते प्रतीयेरन्	३-७-४६

अशब्दमिति चेत्	६-३-२६	अहरङ्गवांशु	१०-६-३८
अशाब्द इति चेत्	५-१-५	अहरन्ताच्च परेण	१०-६-३६
अशास्त्रत्वाच्च	१२-१-२७	अहर्गणे च तद्वर्गः	६-७-१४
अशास्त्रत्वात्तु नैवं	१०-७-१४	अहर्गणे च प्रत्यहं	११-३-१६
अशास्त्रलक्षणत्वा	३-६-३६,	अहर्गणे यस्मिन्नप	६-५-५६
	८-३-२१	अहर्गणे विषाणा	११-३-१२
अशास्त्रलक्षणाच्च	१२-२-३७	अहानि वाऽभिसंख्या	६-७-४०
अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः	६-२-१८	अहीनवचनाच्च	६-२-३०
अशिष्टेन च सम्बन्धात्	१०-८-६४	अहीनवत्पुरुषस्य	३-४-१४
अशेषं तु समञ्जस	६-७-११	अहीने दक्षिणाशास्त्रं	१०-६-६२
अशेषत्वात्तदन्तः	६-७-८	अहीनो वा प्रकरणाद्	३-३-१५
अशेषत्वात्तु नैवं	३-५-५	अह्ना वा श्रुतिभूत	११-४-१७
अश्रुतित्वाच्च	८-१-२२		आ
अश्रुतित्वादिति चेत्	१०-५-२०	आकालिकेप्सा	१-२-१४
अश्रुतित्वान्नेति चेत्	८-१-२६	आकृतिस्तु क्रियार्थ	१-३-३३
अश्रुतेस्तु विकार	७-२-११	आख्या चैवं तदर्थ	३-३-१३
अश्ववदिति चेत्	६-४-८	आख्या चैवं तदावे	६-२-४३
अश्वस्य चतुस्त्रि	६-४-१६	आख्या प्रवचनात्	१-१-३०
असंयुक्तं प्रकरणा	३-३-११	आख्या हि देशसंघो	१-३-१६
असंयुक्तास्तु तुल्य	१०-३-४२	आगन्तुकत्वाद्वा	१२-३-४
असंयोगात्तदर्थेषु	६-१-४२	आगमेन वाऽभ्यास	१०-५-१६
असंयोगात्तु नैवं	६-३-६	आगमो वा चोदना	६-३-१५
असंयोगात्तु मुख्यस्य	३-३-१६	आग्नेयवत्पुनर्वच	२-४-१५
असंयोगात्तु वै कृतं	५-१-२७	आग्नेयसूक्तहेतु	२-३-२७
असंयोगाद्द्विष्वश्रुता	१०-३-४३	आग्नेये कृत्स्नविधिः	१०-६-७५
असंस्पृष्टोऽपि	११-१-५६	आग्रयणाद्वा	१०-५-४७
असति चासंस्कृतेषु	१२-४-१८	आधाराग्निहोत्र	२-२-१३
असम्बन्धश्च कर्मणा	६-२-८	आधारे च दीर्घ	१२-३-२८
असम्बन्धात्तु	५-१-३२	आचाराद् गृह्यमा	६-२-३१
अस्थानात्	१-१-७	आच्छादने त्वंका	१०-४-१२
अस्थियज्ञोऽविप्रति	१०-२-४५	आज्यं वा वर्णसामा	८-१-४१
अस्यां च सर्वलिङ्गा	६-५-३७	आज्यभागयोर्ग्रहणं	१०-७-५०
अहनि च कर्म	६-८-२४	आज्यभागयोर्वा	१०-७-४८

आज्यभागाद्दानिर्दे	१०-७-४	आरम्भासमवायाद्वा	१०-४-२६
आज्यमपीति चेत्	५-४-२०	आराच्छिष्टमसंयु	३-६-३२
आज्यसंस्था प्रति	६-४-५२	आरादपीति चेत्	३-७-३
आज्याच्च सर्वं	३-५-१	आर्थापत्याच्च	६-१-७
आज्ये च दर्शं	३-५-४	आर्षेयवदिति	६-६-३३
आतञ्चनाम्यास	६-५-४	आवापवचनं वा	१०-५-२२
आदाने करोतिशब्दः	४-२-६	आवृत्तिस्तु व्यवाये	१०-६-३१
आदितो वा तन्त्याय	१०-५-८	आवृत्या मन्त्रकर्म	१०-३-२५
आदितो वा प्रवृत्तिः	१०-५-६	आवेश्येरन् वाऽर्थं	६-२-४२
आदित्यवचौगप	१-१-१५	आश्रयिष्वविशेषेण	४-१-१८
आदेशार्थेतरा	६-५-२७	आश्रितत्वाच्च	६-२-११
आधानं च भार्या	६-८-१३	आसादनमिति चेत्	११-२-३८
आधानेऽपि तथेति	३-८-३७		
आधाने सर्वशेष	२-३-४	इज्यायां तद्गुण	६-६-३६
आनन्तर्यं च सान्ना	१०-८-५५	इज्याविकारो वा	३-५-४८
आनन्तर्यमचोदना	३-१-२४	इज्याशेषात्स्विष्ट	१०-७-१०
आनन्तर्मात्तु चैत्री	६-५-३१	इतरप्रतिषेधो वा	११-२-२६
आनर्थक्यं च संयोगा	६-१-४७	इतरस्याश्रुतत्वाच्च	८-३-१६
आनर्थक्यात्तदङ्गेषु	३-१-१८	इतरेषु तु पित्र्याणि	६-८-२५
आनर्थक्यात्वधिकं	१०-४-६	इति कर्तव्यताऽविधे	७-४-१
आनर्थक्यादकारणं	१-४-२२	इष्टित्वेन तु	६-८-२
आनर्थक्यान्नेति	५-३-३५	इष्टित्वेन संस्तुते	६-८-७
आनुपूर्व्यवतामेके	१०-५-१	इष्टिपूर्वत्वाद	६-८-१
आप्तिः संख्या	१०-२-८	इष्टिरयस्यमाणस्य	५-४-६
आमने लिङ्गदर्शं	१०-४-७	इष्टिराजसूय	११-२-११
आमिषोभयभाष्य	८-२-१६	इष्टिरारम्भसंयोगा	१०-१-४
आम्नातस्त्वविका	६-४-१२	इष्टिरिति चैक	११-२-१६
आम्नातादन्यदधि	६-१-५०	इष्टिषु दर्शपूर्णमास	८-१-११
आम्नानं परिसंख्यायं	१०-५-३६	इष्ट्यन्तेन वातदर्था	५-३-३०
आम्नायवचनं तद्वत्	११-२-४१	इष्ट्यर्थमग्न्याघेयं	३-६-११
आम्नायवचनाच्च	१२-४-३६	इष्ट्यावृत्तौ प्रयाज	६-१-१४
आम्नायस्य क्रियार्थं	१-२-१		
आरम्भणीय विकृतौ	१२-२-१६	ईहार्थाश्चाभावात्	१०-२-५०
आरम्भस्य शब्द	११-१-१०		

उ		उत्पत्तिनां समत्वाद्वा	७-४-८
उक्तं क्रियाभिधानम्	७-३-१	उत्पत्तिनामधेयत्वाद्	८-३-२२
उक्तं च तत्त्वमस्य	६-३-२८	उत्पत्तिरिति चेत्	३-६-६
उक्तं तु वाक्यशेष	१-२-२२	उत्पत्तिर्वा प्रयोजक	११-३-३८
उक्तं तु शब्दपूर्वत्व	१-१-२६	उत्पत्तिशेषवचनं च	७-४-६
उक्तं समवाये पार	५-४-१७	उत्पत्तेश्चातप्रधान	४-३-२
उक्तं समाभ्यायैदम	१-४-१	उत्पत्तेस्तु निवेशः	१०-८-६५
उक्तमनिमित्तत्वम्	६-१-४६	उत्पत्तौ कालभेदात्	१०-६-७१
उक्तमभावदर्शनम्	१०-५-४०	उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः	३-७-२६
उक्तश्चाऽनित्यसंयोग	१-२-५०	उत्पत्तौ नित्यसंयोगात्	६-१-४२
उक्तश्चार्येऽसम्बन्धः	८-४-६	उत्पत्तौ येनसंयुक्तं	४-२-१६
उक्ता विकाराच्च	१०-५-१६	उत्पत्तौ वाऽवचना	१-१-२४
उक्त्वा च यजमा	३-७-३७	उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा	७-१-७
उक्त्वाऽग्निष्टोम	१०-५-४६	उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा	७-१-२
उक्थ्यविच्छेद	१०-५-४६	उत्पत्त्यसंयोगात्	४-२-१४
उक्थ्याच्च वचनात्	१०-५-४३	उत्पन्नाधिकारात्	३-५-१०
उक्थ्यादिषु वाऽर्थ	३-३-२८	उत्पन्नाधिकारो	७-३-६
उक्त्वायां काम्य	१२-४-१७	उत्सर्गस्य ऋत्वर्थ	१०-३-७१
उत्कर्षः संयोगा	११-३-४७	उत्सर्गाच्च भक्त्या	६-३-३८
उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य	५-४-१०	उत्सर्गेऽपि परिग्रहः	१२-४-२५
उत्कर्षे सूक्तवाकस्य	११-३-५२	उत्सर्गे तु प्रधान	३-७-१६
उत्कर्षो वा ग्रहणाद्	३-३-२४	उदगयनपूर्वपक्ष	६-८-२३
उत्कर्षो वा दीक्षित	६-५-३६	उदयनीये च तद्वत्	११-२-६४
उत्कर्षो वा द्विप्रज्ञवत्	६-३-१८	उदवसानीयाः सत्र	१०-२-३७
उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ	६-३-३६	उद्गातृचमसमेकः	३-५-२३
उत्तरवदिप्रतिषेध	७-३-२०	उपगाश्च लिङ्गदर्श	३-७-३०
उत्तरस्य वा मन्त्रा	१०-३-१५	उपगेषु शरवत्	१०-४-८
उत्तरार्थस्तु स्वाहा	८-४-१४	उपदेशस्त्वपूर्व	६-८-३
उत्तरासु न यावत्स्व	११-१-४६	उपदेशाच्च साम्नः	६-१-५२
उत्तरास्वश्रुतित्वा	११-१-१६	उपदेशो वा याज्या	३-२-१२
उत्थाने चानुप्ररोहात्	६-५-३६	उपधानं च तादर्थ्यात्	१०-१-५४
उत्पत्तावभिसम्बन्ध	४-४-३७	उपनयन्नाधीत होम	६-८-११
उत्पत्तिकालविषये	४-३-३७	उपरवमन्त्रस्तन्त्रं	११-४-५३
उत्पत्तितादर्थ्या	१०-८-२६	उपरिष्ठात्सोमानां	११-३-४५

उपवादश्च तद्वत्	१०	एककपालानां वैश्व	७-१-२३
उपवीतं लिङ्गदर्शनात्	३-	एककपालेन्द्राग्नी	७-१-२२
उपवेशश्च पक्षे स्यात्	५-०-४७	एककर्मणि विकल्पो	८-१-२६
उपसत्सु यावदुक्त	१०-७-४३	एककर्मणि शिष्टत्वाद्	१२-३-६
उपस्तरणामिधारण	१०-२-३	एकत्रिके तृचादि	१०-५-७
उपह्वयेऽप्रतिप्रसवः	२-४-२८	एकचित्तिर्वा स्याद	४-४-१७
उपांशुयाज्वचनाद्यथा	६-५-१०	एकत्वयुक्तमेकस्य	३-१-१३
उपांशुयाजमन्तरा	१०-८-४७	एकत्वाद्धैकभागः	१०-७-२१
उपायो वा तदर्थत्वात्	३-४-३६	एकत्वेऽपि न गुणा	६-३-४२
उभयपानात्पृथदा	१०-४-४६	एकत्वेऽपि परम्	२-४-१३
उभयसाग्नि चैवमेका	६-२-४६	एकत्वेऽपि पराणि	२-४-२०
उभयसाग्नि नैमित्तिकं	१०-५-५६	एकदेशकालकर्तृत्वं	११-२-१
उभयसाग्नि विश्वजिद्	१०-६-२४	एकदेशत्वाच्च विभक्ति	१-३-२६
उभयार्थमिति चेत्	४-३-३२	एकदेश द्रव्यश्चो	४-१-२८
उभयो पितृयज्ञवत्	६-८-८	एकद्रव्ये संस्काराणां	११-४-४३
उभयोरविशेषात्	६-२-५७	एकधेत्येकसंयोग	६-३-३१
उभयोश्चाङ्गसंयो	१२-२-२६	एकधोपहारे सहत्वं	१०-२-१७
उभयोस्तु विधानात्	१०-८-६६	एकनिष्पत्तेः सर्वं समं	४-१-२२
उभाम्यां व न हि	६-४-२५	एकपात्रे क्रमादध्वर्युः	३-५-३६
उष्णिककुभो	५-३-६	एकचस्थानानि यज्ञे	१०-६-१
		एकवाक्यत्वाच्च	१०-१-८
		एकशब्दात्तथा	११-१-२५
		एकश्रुतित्वाच्च	४-१-१२
		एकसंख्यमेव स्यात्	८-३-१५
		एकस्तु समवायात्	६-३-४०
		एकस्तोमो वा	५-३-४३
		एकस्माच्चेद्यथा	३-४-४६
		एकस्मिन्नेकसंयो	३-३-३८
		एकस्मिन्वा देवता	३-२-४०
		एकस्मिन्वाऽर्थधर्म	३-३-४३
		एकस्मिन्वा विप्रति	१०-१-४६
		एकस्मिन्समवत्	३-५-३
		एकस्य कर्मभेदादिति	३-७-२३
		एकस्य तु लिङ्गभे	२-३-२

ऊ

ऊहः

ऋ

ऋगवा स्यादाम्नात्

६-४-१८

ऋगगुणत्वान्नेति

८-३-२६

ऋजीषस्य प्रधान

१०-६-७६

ऋत्विक्फलं करणे

३-८-२५

ऋत्विग्दानं धर्ममात्रा

१०-२-२२

ए

एकं वा चोदनं कत्वात्

४-३-१४,

८-२-२०

एकं वा तण्डुल

५-२-१५

एकं वा शब्दसाम

५-४-१८

एकं वा संयोगरूप

२-४-६

कर्म धर्मो वा प्रवण	१-३-२२	कालस्तु स्याद	६-४-३८
कर्मयुक्ते च दर्शनात्	४-२-१८	कालस्येति चेत्	६-२-५२
कर्म वा विधिलक्षणम्	६-२-३	कालान्तरेऽर्थवत्वं	१२-३-१५
कर्म सन्तानो वा	१२-३-२७	कालाभ्यासेऽपि	८-३-६
कर्मस्वपीति चेत्	१०-५-३२	कालार्थत्वाद्दोभयोः	६-४-४२
कर्माऽभेदं तु जैमिनिः	६-३-४	कालोत्कर्ष इति	५-१-२१
कर्माण्यपि जैमिनिः	३-१-४	कालो वोत्पन्न	६-४-३५
कर्माभावादेवमिति	६-१-४३	कृतकं चाभिधानम्	२-४-१२
कर्मार्यं तु फलं	३-८-२८	कृतत्वात् कर्मणः	३-४-४०
कर्मार्यत्वात्प्रयोगे	११-१-८	कृतदेशात् पूर्वेषां	५-२-२१
कर्मके तत्र दर्शं	१-१-६	कृते वा विनियोग	१-१-३२
कल्पान्तरं वा तुल्य	६-७-२२	कृत्स्नत्वात् तथा	१०-८-३८
कामसंयोगात्	१०-५-८१	कृत्स्नविधानाद्वा	८-१-५
कामसंयोगे तु	१०-५-६५	कृत्स्नोपदेशाद्	३-२-१५
कामेष्टौ च दानशब्दा	१०-२-४२	कृष्णलेख्यर्थलोपा	१०-२-१
कामो वा तत्संयोगेन	४-३-२२	ऋतुतोवाऽर्थवादानु	३-३-२६
काम्यत्वाच्च	५-३-३४	ऋतुवद् वानुमानेना	११-१-२६
काम्यानि तु न	१०-२-४६	ऋतोश्च तद्गुणत्वा	१०-७-६७
काम्ये कर्मणि	४-३-२०	ऋतौ फलार्थवाद	४-३-१७
काम्येषु चैव	६-३-८	ऋत्वग्निशेषो वा	५-३-१६
कारणं स्यादिति	१-४-२१	ऋत्वन्तरवदिति	५-१-११
कारणाच्च	३-५-२	ऋत्वन्तरे वा तन्न्या	१०-७-७०
कारणादभ्यावृत्तिः	५-२-३	ऋत्वन्तरेषु पुन	११-१-१८
कारणाद्वाऽनवसर्गः	५-२-८	ऋत्वन्ते वा प्रयोग	५-३-२७
कारणानुपूर्व्याच्च	३-५-३६	ऋत्वर्थं तु क्रियेत	१०-२-४८
कात्स्न्यं वा	६-४-२५	ऋत्वार्थायामिति	११-४-११
कार्यत्वादुत्तरयो	१०-४-४६	ऋमकोपश्च यौग	११-१-५४
कालप्राधान्याच्च	६-५-४१	ऋमकोपोऽर्थशब्दा	५-४-१
कालभेदात्वावृत्ति	११-२-२४	ऋमश्च देशसा	३-३-१२
कालभेदान्नेति	११-२-१२	ऋमादुपसर्जोऽन्ते	१०-५-४
कालवाक्यभेदा	१२-२-१५	ऋमेण च नियम्यते	५-१-४
कालविधिवो भयो	६-४-४४	ऋयणश्रपणपुरो	८-२-४
कालश्चेत्सन्नय	६-४-४१	ऋयणेषु तु विकल्पः	१२-४-५
कालश्रुतौ काल	४-३-३०	ऋयतेवाऽर्थवाद	१०-२-४

क्रियस्य धर्ममात्र	६-१-१५	गुणशब्दस्तथेति	६-१-३८
क्रियाणामर्थशेषत्वा	११-१-२७	गुणश्चानर्थकः स्यात्	२-१-१८
क्रियाणामाश्रित	६-३-११	गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे	२-२-२३
क्रियार्थत्वादितरे	६-४-२८	गुणस्तु क्रतुसंयोगा	२-३-१
क्रिया वा देवतार्थं	१२-२-६	गुणस्तु श्रुतिसंयोगा	२-२-५
क्रिया वा स्याद	६-४-५१	गुणस्य तु विधान	६-१-२३
क्रिया स्याद्धर्मं	१०-२-६०	गुणस्य तु विधानार्थे	१-४-१८
क्रियेरन् वाऽर्थं	६-२-४५	गुणात्संज्ञोपबन्धः	२-३-१०
क्रीतत्वात् भक्त्या	६-१-१६	गुणादप्रतिषेधः	१-२-४७
क्वचिद्विधानाच्च	६-३-१४	गुणादयज्ञत्वम्	१०-५-४१
क्वचिद्विधानान्नेति	११-१-६५	गुणाद्वाऽप्यभिधानं	३-२-४
		गुणाद्वा द्रव्यशब्दः	८-३-१६
		गुणानां च परार्थं	३-१-२२, ६-४-१३,
			१०-८-६७
			४-४-३५
			३-२-७
			३-७-१०
			३-२-२६
			१२-३-३४
			६-१-४८
			२-४-२६
			६-१-३४
			१-२-४१
			२-१-४३
			८-३-२८
			४-४-३५
			१०-१-२५
			२-२-११
			६-४-४३
			१०-१-२२
			१२-४-३८
			८-३-१७
			३-८-२४
			३-८-२४

क्ष

ग

गणचोदनायां यस्य
गणादुपचयस्त
गणेषु द्वादशस्य
गतेकर्मस्थियज्ञ
गव्यस्य च तदादि
गानसंयोगाच्च
गायत्रीषु प्राकृतीना
गार्हपते वा
गीतिषु समाख्या
गुणकामेष्व्वाश्रि
गुणकालविकारा
गुणत्वाच्च वेदे न
गुणत्वेन तस्य
गुणत्वेन देवता
गुणमुख्यविशेषा
गुणमुख्येव्यति
गुणलोपे तु मुख्य
गुणवादस्तु
गुणविधित्तु न
गुणविशेषादेकस्य

८-३-३
८-३-१०
८-१-१७
१०-२-५७
८-१-१८
६-१-५६
८-३-१२
६-६-२१
२-१-२६
८-१-२३
१२-१-२
३-८-१२
३-८-६
८-१-२३
१०-१-३६
३-३-६
१०-२-६१
१-२-१०
७-३-१७
३-६-४४

गुणानां तृत्पत्ति
गुणाभावात्
गुणाऽभिधानात्
गुणाभिधानान्मन्द्रा
गुणार्थात्वादुपदेश
गुणार्थमिति चेत्
गुणार्था वा पुनः
गुणार्थित्वान्नेति
गुणार्थेन पुनः श्रुतिः
गुणार्थो व्यपदेशः
गुणावेशश्च सर्वत्र
गुणाश्च नामसंयुक्ता
गुणेपीति चेत्
गुणोपबन्धात्
गुणो वा श्रपणार्थं
गुणो वा स्यात्कपा
गृहपतिरिति च
गौत्ववच्च समन्वयः
गौणो वा कर्म

३-२-७
३-७-१०
३-२-२६
१२-३-३४
६-१-४८
२-४-२६
६-१-३४
१-२-४१
२-१-४३
८-३-२८
४-४-३५
१०-१-२५
२-२-११
६-४-४३
१०-१-२२
१२-४-३८
८-३-१७
३-८-२४

ग्रहणं वा तुल्यत्वात्	१०-८-२५	चोदनायां त्वनारम्भो	४-१-१६
ग्रहणं समानविधानं	१०-८-२७	चोदनायां फलाश्रुतेः	४-३-१०
ग्रहस्यार्थवत्त्वात्	१०-७-५७	चोदनार्थकात्स्न्यात्तु	३-६-८
ग्रहणाद्वाऽनपायः	३-२-३१	चोदनालक्षणोऽर्थो	१-१-२
ग्रहणाद्वाऽपनीतम्	३-२-३३	चोदनलिङ्गसंयोगे	१०-४-२
ग्रहणार्थं प्रतीयेत	६-२-१३	चोदना वाऽपूर्वत्वात्	३-३-२१
ग्रहणां च सम्प्रति	१०-१-२७	चोदना वाऽप्रकृतत्वात्	२-२-१०
ग्रहणां देवता	१०-४-४८	चोदना वा कर्मोत्सर्गो	६-४-५४
ग्रहभावे तद्वचनम्	१०-१-२८	चोदना वा गुणानां	२-२-६
ग्रहार्थं च पूर्वं	१२-१-२४	चोदना वा द्रव्य	६-४-२६
ग्रहेष्टकमीपानु	५-३-१५	चोदना वा शब्दार्थस्य	२-२-१६
ग्रावस्तुतो भक्षो	३-५-२७	चोदना शेषभावाद्वा	७-१-३
		चोदनासमुदायात्तु	६-१-२८
च		चोदनासामान्याद्वा	७-३-२७
चतुर्थे चतुर्थेऽहन्	१०-५-५५	चोदनासु त्वपूर्वं	१०-५-१२
चतुर्धाकरणे च	१२-५-४६	चोदने कत्वाद्वाज	११-४-१
चमसवदिति चेत्	३-५-८	चोदितं तु प्रतीयेता	१-३-१०
चमसाध्वर्यवश्च	३-७-२५	चोदिते तु परार्थं	३-१-१५, ६-१-४०
चमसांश्चमसाध्वर्यं	३-७-४६	चोदितत्वाद्यथा	६-१-६
चमसिनां वा	३-५-२६	चोद्यन्ते चार्थकर्म	४-१-६
चमसे चान्यदर्शं	३-५-३५, ३-७-४८		
चमसेषु समाख्या	३-५-२२	छ	
चमसैश्च तुल्य	३-५-५०	छन्दश्च देवतावत्	३-२-४१
चरावपीति चेत्	३-३-३६	छन्दसि तु यथाद्	६-३-१४
चरुशब्दाच्च	८-१-३८	छन्दः प्रतिषेधस्तु	३-२-३८
चरुर्विचिकारः	१०-१-३४	छन्दोव्यतिक्रमा	१०-५-८८
चरो वाऽर्थोक्तं	३-३-३५	छागेन कर्मख्या	६-८-३६
चरो वा लिङ्गदर्शं	१०-१-४८	छागो वा मन्त्रवर्णात्	६-८-३१
चातुर्वर्ण्यमविशेषा	६-१-२५	ज	
चिकीर्षया च	३-७-७	जगत्साम्नि सामा	१०-५-५८
चोदनां प्रतिभावाच्च	३-८-७	जपाश्चाकर्मसंयुक्ताः	१२-४-१
चोदनानामनाश्रया	१०-३-५८	जपो वा अग्निसंयो	६-८-६
चोदना पुनरारम्भः	२-१-५	जाघनी चैकदेशत्वात्	३-३-२०
चोदना पृथक्त्वे	११-४-२५	जातिं तु बादरायणो	६-१-८
चोदना प्रभूत्वाच्च	१०-३-३	जातिर्नैमित्तिकं	६-३-६

तथा च लिङ्गदर्शनम्	१०-१-४४,	तथेहापि स्यात्	८-३-३०
	१०-३-६१, १०-५-७२	तथेहि	११-१-४०, ११-२-३७
तथा च लोकभूतेषु	४-१-६	तथैकार्थविकारे	१०-७-६१
तथा च सोमचमसः	१०-३-६८	तथोत्तरस्यां ततो	१०-४-२३
तथाचान्यार्थदर्शनम् ^१	४-४-३१	तथोत्थानविसर्जते	३-२-१०
तथा चान्यार्थदर्शनं कामु	११-१-५७	तथोत्पत्तिरितरेषां	७-३-३२
तथा तद्ग्रहणे स्यात्	१०-७-३२	तदकर्मणि च	६-३-३
तथा द्रव्येषु गुण	४-२-२५	तदपेक्षं च द्वादशत्वम्	११-४-२०
तथा निर्मन्थ्ये	१-४-१२	तदभावेऽग्निवदिति	६-२-५५
तथान्तः क्रतुयुक्तानि	६-२-३०	तदभ्यासः समासः	६-२-२१
तथा पयः प्रतिषेधः	११-१-५१	तदर्थत्वात्प्रयोगस्य	१-३-३५
तथा पूर्ववति स्यात्	८-३-२७	तदर्थमिति चेन्न	१०-८-६३
तथा फलाभावात्	१-२-३	तदर्थवचनाच्च	५-४-७
तथा मक्षप्रैषा	६-८-२८	तदर्थशास्त्रात्	१-२-३१
तथाभिघारणस्य	१०-३-३८	तदष्टसंख्यं श्रवणात्	४-१-४६
तथा भूतेन संयोगाद्	१०-३-१०	तदशक्तिश्चानुरूप	१-३-२८
तथा याज्या पुरोहृतेः	२-१-१६	तदाऽवयवेषु स्यात्	११-२-१६
तथा यावदुक्तमा	६-१-२४	तदाह्यो वा प्रकरणो	३-२-२१
तथा यूषस्य वेदिः	३-७-१३	तदादि वाऽभिसम्बन्धा	५-१-२४
तथावमृथः सोमात्	७-३-१२	तदावृत्तं तु जैमिनि	८-३-७
तथा व्रतमुपेतत्वात्	१२-१-२०	तदुक्तदोषम्	६-१-२
एषा शरेष्वपि	८-३-३३	तदुक्तित्वाच्च	६-१-७
तथा सोमविकारा	५-४-२६	तदुक्ते श्रवणा	४-२-२८
तथा स्यादध्वर	११-२-१८	तदुत्पत्तेर्वा प्रवचन	१२-३-२४
तथा स्वाभिनः फल	६-३-२१	तदुत्पत्तेस्तु निवृत्ति	६-२-४१
तथा हि लिङ्गदर्शनम्	६-२-२६	तदुत्सर्गो कर्माणि	४-१-३
तथाह्यानमपीति	३-२-५	तदुपहृत उपाह्वयस्वे	३-५-४१
तथेतरस्मिन्	८-३-३५, १०-७-५५,	तदुद्ग्रह्यं वचनात्	६-२-४
	११-१-४२,	तदेकदेशो वा	४-२-३
	१२-४-२४	तदेकपात्राणां समवा	३-५-४३

१. इतः स्थानों पर भी देखें—४-४-३८, ४-४-४१, ५-१-७, ५-२-२०, ६-१-११, ६-१-३८, ६-५-१५, ६-७-१०, ८-१-३१, ८-३-५, ६-२-१८, १०-८-४६, १०-८-५८, ११-१-४४, ११-१-६६, ११-२-५, ११-२-१५, ११-२-२४, ११-४-३, ११-४-२३ ।

तद्गुणाद्वा स्वधर्मः	३-७-५१	तस्मिन्संज्ञा विशेषाः	७-२-१६
तद्गुणास्तुविधीये	१-४-६	तस्तिन्नसंस्कारकर्म	१२-४-२८
नद्देशानां वाऽग्र	१०-५-६६	तस्मिन्नोमः प्रवर्ते	८-४-१०
तद्देशानां वा संघात	६-१-२५	तस्मिंस्तु शिष्यमाणा	६-२-२२
तद्भूतस्थानाद्	११-३-२४	तस्मिंश्च फलदर्श	६-३-२५
तद्भूतानां क्रियार्थेन	१-१-२५	तस्मिंश्च श्रवणश्रुतेः	८-१-३६
तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो	२-२-१६	तस्य च क्रिया ग्रहणा	७-२-१५
तद्युक्तं च कालभेदात्	१२-१-१७	तस्य च देवतार्थ	१२-४-१६
तद्युक्तस्येति चेत्	६-१-१६	तस्य निमित्तपरीणितः	१-१-३
तद्युक्ते च प्रतिषेधात्	६-७-२७	तस्य च पात्रदर्शनात्	८-२-१४
तद्युक्ते तु फलश्रुति	३-७-६	तस्य घेनुरिति गवां	१०-३-५६
तद्रूपत्वाच्च शब्दा	६-४-३	तस्य रूपोपदेशाभ्यास	३-२-२५
तद्वचनाद्विकृतौ	५-१-१७	तस्य वाऽप्यनुमानिक	१०-८-१४
तद्वच्च देवतायां	१०-८-४६	तस्यां तु वचनादे	६-४-१६
तद्वच्च लिङ्गदर्शनात्	३-७-४२,	तस्यां तु स्यात्	१०-१-६
	४-१-१६	तस्याग्रयणाद्	१०-५-४२
तद्वच्च शेषवचनं	३-५-१५	तस्योपदेशसमाख्या	३-७-४१
तद्वत्सवनान्तरे	३-६-३०	तस्योभयथा	१०-५-८२
तद्वर्जं तु वचन	३-६-३	तादर्थ्यात्कर्म	६-१-१२
तद्विकारेऽप्यपूर्वं	५-३-१२	तादर्थ्याद्वा तदा	६-३-२७
तद्व्यपदेशं च	१-४-५	तादर्थ्येन गुणार्थ	६-२-५
तद्वतिः शब्दान्नेति	६-४-२०	तानि द्वैधं गुण	२-१-६
तद्वि तथेति चेत्	११-३-२८	ताभिश्च तुल्यसंख्या	४-४-१५
तन्त्रमध्ये विधानाद्वा	१२-१-३,	ताभ्यां वा सह	१०-८-३१
	१२-२-१७	तासां च कृत्स्नवचनात्	६-४-८
तन्त्रिसमवाये चोदनात्ः	१२-१-१	तासामग्निः प्रकृतितः	३-६-१६
तन्त्रीणां प्रकरणात्	१०-८-५०	तुल्यं च साम्प्रदायिक	१-२-८
तन्नित्यं तच्चिकीर्षा	६-३-१७	तुल्यं तु कर्तृधर्मेण	१-३-२३
तन्नित्यवच्च पृथक्	८-३-१३	तुल्यत्वात् क्रययो	१-४-७
तन्यायत्वादद्	१२-३-२३	तुल्यधर्मत्वाच्च	१०-५-७१
तन्यायत्वादशक्ते	११-१-५८	तुल्यवच्च प्रसंख्या	४-४-२०
तपश्च फलसिद्धि	३-८-६	तुल्यवच्चाभिधाय	१०-८-३२
तस्माच्च विप्रयोगे	६-४-४६	तुल्यश्रुतित्वाद्देतरेः	२-१-१०
तस्मिन्पेषणमन्थं	१०-१-४६	तुल्यः सर्वेषां पशु	३-६-१८

		द	
तुल्या च कारणश्रुति	४-४-३६		
तुल्या च प्रभृतागुणे	१०-३-८	दक्षिणाकाले यत्स्वं	६-७-७
तुल्यानां तु यौगपद्य	११-१-५५	दक्षिणायुक्तवचनाच्च	१०-२-२४
तुल्येषु नाधिकारः	६-१-१६	दक्षिणेऽग्नौ वरुण	११-२-३३
तृचे वा लिङ्ग	१०-६-२	दधिग्रहो नैमित्तिक	४-३-८
तृचे स्यात् श्रुति	६-२-१४	दधि वा स्यात्	१०-४-५५
तृतीयसवने वचनात्	१०-५-४४	दधिसंघातसामा	८-२-२१
तेन च कर्म संयोगात्	८-१-३३	दघ्नस्तु गुणभूत	१०-४-५४
तेन च संस्तवात्	१०-६-३५	दघ्नः स्यान्मूर्तिसामा	८-२-१५
तेन त्वर्थेन यज्ञस्य	६-१-३	दविहोमो यज्ञाभिधा	८-४-१
तेनोत्कृष्टस्य	३-६-२१	दर्शनमौष्टिकानां	८-१-१०
तेनोत्पत्तिकत्वात्	७-२-५	दर्शनाच्चान्यपात्र	८-४-७
तेषां चैकावदानत्वा	१०-२-७	दर्शनात्काललिङ्गानां	६-२-२७
तेषां तु वचनाद्	१०-२-३६	दर्शनादिति चेत्	३-६-४
तेषां वा द्वयवदानत्वं	१०-७-५	दर्शनाद्विनियोगः	१-३-१७
तेषामप्रत्यक्ष	१०-१-३	दर्शनाद्वैकदेशे	६-४-१८
तेषामृग्यत्रार्थवशेन	२-१-३५	दर्शपूर्णमासयो	४-४-२६
तेषामोत्पत्तिक	६-२-२८	दर्शयति च	६-२-१६
तेषामर्थेन सम्बन्धः	३-१-७	दशस्वं लिङ्गदर्श	३-७-२७
तेषु समवेतानां	११-२-१०	दशपेये क्रियप्रति	११-२-५५
तेष्वदर्शनाद्विरोध	१-३-८	दशमविसर्गवचनाच्च	१०-६-३६
ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वाद्	३-७-३६	दशमेऽहनीति	१०-६-४०
त्रयस्तथेति चेत्	१०-६-११	दातुस्त्वविद्यमान	१०-७-१६
त्रयाणां द्रव्यसम्प	६-१-३६	दाने पाकोऽर्थलक्षणः	१०-३-३६
त्रयोदशरात्रादिषु	८-२-२७	दीक्षाकालस्यशिष्ट	६-५-३८
त्रिंशच्च परार्थत्वात्	३-२-३६	दीक्षाणां चोत्तरस्य	११-२-५६
त्रिकस्तृचे ध्रुवो	१०-५-१०	दीक्षादक्षिणं तु	३-७-११
त्रिवत्सश्च	१०-३-६०	दीक्षापराधे चानुग्रहात्	६-५-३५
त्रिवृति संख्यात्वेन	१०-६-२२	दीक्षापरिमाणे यथा	६-५-२८
त्रिवृद्द्विति चेत्	१०-६-१७	दीक्षासु विनिर्देशा	६-७-१३
त्र्यङ्गुर्वा शर	१०-७-११	दीक्षितस्य दानहोम	१०-८-१२
त्र्यनीकायां न्यायो	१०-५-७७	दीक्षिताऽदीक्षित व्यय	१०-६-५८
त्वष्टारं तूपलक्षयेत्	३-२-३४	दीक्षोपसदां च संख्या	११-४-२१
		दूरभूयस्त्वात्	१-२-१२

दृष्टः प्रयोग इति ८-३-३२, ११-१-३६	द्रव्यसंस्कारप्रकरणा	३-८-३०
दृश्यते	द्रव्यस्याकर्मकाल	११-३-२
देवताया वा नियम्येत	द्रव्याणां कर्मसंयोगे	६-१-१
देवता तु तदाशी	द्रव्याणां तु क्रियार्थानां	४-३-८
देवता वा प्रयोजयेद	द्रव्याणि त्वविशेषणा	४-१-७
देवतायां च तदर्थ	द्रव्यादेशे तद्	७-३-१६
देवतायाश्च हेतुत्वे	द्रव्यान्तरबद्धा	११-४-४६
देवतायास्त्वनिर्वच	द्रव्यान्तरे कृताथं	११-४-४४
देवताश्रये च	द्रव्यान्तरेऽनिवेशाद्	८-३-२०
देशपृथक्त्वान्मन्त्रो	द्रव्येष्वात्मभगामि	१०-४-२७
देशबद्धमुपांशुत्वं	द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्	३-५-१६
देशमात्रं वा प्रत्यक्षं	द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः	६-४-२७
देशमात्रं वाऽशिष्टे	द्रव्योपदेश इति चेत्	२-१-११
दक्षस्य चेतरेषु	द्रव्योपदेशाद्वा	८-४-५
दैवतैर्वैककर्म्यात्	द्वयोर्विधिरिति चेत्	७-३-१०
दोषात्तु वैदिके	द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं	४-१-४८
दोषात्त्विष्टिलौकिके	द्वादशशतं वा प्रकृति	६-७-१५
दोहयोः कालभेदाद्	द्वादशाहस्तु लिङ्गात्	६-५-२६
द्यावोस्तथेति चेत्	द्वादशाहस्य व्यूढ	१०-५-७६
द्रवत्वं चाविशिष्टम्	द्वादशाहस्य सन्नत्व	१०-६-६०
द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्	द्वादशाहिकमहर्गणे	७-४-१३
द्रव्यं वा स्याच्चोदना	द्वादशाहे तत्प्रकृति	११-४-१६
द्रव्यगुणसंस्कार	द्वादशाहे तु वचनात्	१०-६-६६
द्रव्यत्वेऽपि समु	द्वित्वबहुत्वयुक्तं	३-३-१७
द्रव्यदेवतं तथेति	द्विपुरोडाशायां स्याद्	१०-८-६१
द्रव्यदेवतावत्	द्विविभागः स्याद्	१०-७-२०
द्रव्यवत्त्वान्तु पुंसा	द्विरात्रादिनामैका	८-२-२६
द्रव्यविकारं तु पूर्वं	द्वेष्ये वा चोदना	१०-२-४४
द्रव्यविधिसन्नि	द्वैधं वा तुल्य	६-१-५१
द्रव्यसंख्याहेतु	द्वैयहकाल्य तु	५-४-२३
द्रव्यसंयोगाच्च	द्वयर्थत्वं च विप्रति	७-१-६
द्रव्यसंयोगाच्चोद	द्वयाघानं च द्वियज्ञ	६-१-२२
द्रव्यसंस्कारकर्म	द्वयाम्नातेषुभौ	३-८-१७
द्रव्यसंस्कारविरोधे		६-३-३८

न नाम्ना स्याद	२-४-१०	न वा परार्थत्वा	१०-४-५०
न नित्यत्वात्	६-२-१०	न वा परिसंख्यानात्	३-७-३३
न निर्वापशेषत्वात्	१०-२-६३	न वा पात्रत्वाद्	४-१-३४
न पक्तिनामत्वात्	३-३-३७	न वा प्रकरणात्	१-४-१४
न पदार्थत्वात्	६-१-४४	न वा प्रधानत्वा	१०-५-७६
न पूर्वत्वात्	१-२-२१	न वा प्रयोगसम	६-८-३७
न पूर्ववत्वात्	७-१-११	न वार्थधर्मत्वात्	७-४-१७
न प्रकृतावकृ	१०-६-१८	न वा शब्दकृत्त्वा	५-२-६
न प्रकृतावपीति	८-४-१६	न वा शब्दपृथक्त्वा	१०-७-२६
न प्रकृतावशब्द	१०-७-६३	न वा संयोगपृथक्त्वा	६-६-३८
न प्रकृतेरशास्त्र	३-३-२२	न वा संस्कार	१०-४-५२
न प्रकृतेरेकसंयो	३-३-१६	न वा स्याद्गुण	१०-४-५८
न प्रतिनिधौ सम	६-३-३२	न वा स्वाहाकारेण	८-४-११
न प्रयोगसाधारण्यात्	११-३-२६	न विशतौ दशेति	८-३-१४
न प्रसिद्धग्रहण	१०-६-५६	न विधेश्चोदित	११-१-६६
न प्राङ्नियमात्	१२-१-३७	न वैदिकमर्थ	७-३-३१
न भक्तित्वात्	७-३-१४	न वैश्वदेवो हि	१२-१-२६
न भक्तित्वादिषा	६-५-३४	न वोत्पत्तिवाक्य	११-३-११
न भूमिः स्यात्	६-७-३	न व्यर्थत्वात्सर्व	७-३-११
न मिश्रदेवतात्वा	५-४-२१	न शब्दपूर्वत्वात्	१०-८-११
न यज्ञस्याश्रुतित्वा	६-१-२४	न शब्दैकत्वात्	४-३-३३
न लौकिकानामा	८-४-६	न शास्त्रपरिणाम	१-३-६
न वाऽङ्गभूतत्वात्	१०-१-७	न शास्त्रलक्षणत्वात्	११-३-३७
न वाऽनारभ्यवाद	६-६-३	न शेषसन्निधानात्	४-१-३०
न वाऽर्थान्तरसंयोग	१०-१-४७	न श्रुतिप्रतिषेधात्	११-३-४६
न वाऽविरोधात्	१२-२-३६	न श्रुतिविप्रतिषे	३-६-२४, ४-८-१६
न वाऽसम्बन्धात्	५-३-३३	न श्रुतिसमवायित्वा	२-१-१६
न वाऽकर्मपृथक्	११-२-२०	न संयोगपृथक्त्वा	१२-१-२३
न वा कल्पविरोधात्	६-६-२२	न सन्निपातित्वाद्	११-४-५४
न वा कृतत्वात्	१२-१-४३	न समत्वात्प्रप्राज	१०-६-१२
न वाक्यशेषत्वात्	८-१-८	न समवायात्	६-२-१२, ६-१-३६,
न वाक्यशेषत्वद्गुणा	८-४-२३		११-२-४३
न वा ऋत्वभिधाना	७-४-१५	न सर्वस्मिन्निवेशात्	३-३-७
न वा तासां तदर्थ	३-६-१२, ३-६-१७	न सर्वेषामधिकारः	३-७-३५

न स्याद्देशान्तरे	१-३-२०	नासमवायात्	५-१-१२
न स्याद्विशये तन्मया	१०-६-२०	नासमवायात्प्रयोजने	४-३-३१
न स्वाभित्वं हि	६-६-२०	नासम्भवात्	६-४-५
नाज्जङ्गत्वात्	६-३-३०	नासामर्थ्यात्	६-७-३३
नाऽप्रकरणत्वाद	३-८-२८	निकायिनां च पूर्वं	८-१-१६
नाऽशब्दं तत्प्रमाण	४-१-१४	निगदो वा चतुर्थं	२-१-३८
नाऽसन्नियमात्	१-३-१२	नित्यत्वाच्चा नित्यै	६-७-५
ना कृतत्वात्	५-१-१०	नित्यधारणाद्वा	१२-४-३१
ना चोदितत्वात्	६-२-६०	नित्यधारणे विकल्पो	१२-४-३०
नातत्संस्कारत्वात्	६-५-२४	नित्यश्च ज्येष्ठशब्द	४-४-६
नादवृद्धिपर	१-१-१७	नित्यस्तु स्याद्दर्शन	१-१-१८
नादानस्यानित्य	६-७-१२	नित्यानुवादो वा	१०-७-३६
नाधिकारिकत्वात्	६-२-५६	नित्यो वा स्यादर्थ	४-४-११
नानर्थकत्वात्	६-३-३७	निमित्तविधानाद्वा	१०-५-६१
नानाबीजे एकमुलू	५-२-१३	निमित्तार्थं च	६-१-२७
नानार्थत्वात्सोमे	१२-१-८	नियतं वार्थवत्त्वात्	६-८-२७
नाना वा कर्तृभेदात्	११-२-४८	नियमस्तु दक्षिणाभिः	३-७-३६
नाना हानि वा	८-३-४	नियमार्थः क्वचिद्विधिः	६-३-१६
नानुक्तेऽन्यार्थदर्श	४-४-३३	नियमार्था गुणश्रुतिः	३-६-४०
नान्यार्थत्वात्	१२-१-४६	नियमार्था वा पुनः	४-२-२४
नाप्रकरणत्वात्		नियमो बहुदेवते	६-३-४३
नामधेये गुणश्रुतेः	१-४-६	नियमो वा तन्निमित्त	६-२-१५
नामरूपधर्मविशेष	२-४-८	नियमो वा श्रुतिविशेष	६-१-५३
नाम्नस्त्वौत्पत्तिक	७-३-३	नियमो वैकार्थ्यं	६-८-३५
नार्थपृथक्त्वात्	४-३-७, ११-१-१५	नियमो बोभयमागि	६-३-८
नार्थाभावात्	१०-७-६०	निरवदानात्तु शेषः	३-४-३८
नार्थाभावात् श्रुतेः	७-२-८	निर्दिष्टस्येति चेत्	१२-१-३८
नावृत्तिधर्मत्वात्	१०-५-२५	निर्देशस्य गुणार्थ	६-४-६
नाशिष्टत्वादितर	११-३-२६	निर्देशाच्छेषमक्षो	६-४-४
नाशेषभूतत्वात्	६-४-१५	निर्देशात्तस्या	४-१-२६
नाश्रुतत्वात्	१०-७-२६, १२-१-३६	निर्देशात्तु पक्षे स्यात्	६-१-२६
नाश्रुतित्वात्	६-१-१७, १२-३-१२	निर्देशात्तु विकल्पे	६-३-२८
नासंहानात्कपाल	१०-१-२६	निर्देशात्तु विकृता	३-८-३१
नासन्निधानात्	७-१-१५	निर्देशाद्वाऽन्यदा	६-४-२

निर्देशाद्वा तद्धर्मः	६-७-२८	न्यायविप्रतिषेधा	५-३-२५
निर्देशाद्वा त्रयाणां	६-१-२६	न्यायानि वा प्रयुक्त	१२-१-११
निर्देशाद्वा वैदिकानां	१२-२-३	न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम्	३-८-४१
निर्देशा व्यवतिष्ठेत्	३-६-३४	न्यायो वा कर्म	६-१-४५
निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन्	६-२-४७		
		प	
निर्देशो वाज्नाहित	६-८-६	पक्षेणार्थकृतस्येति	३-३-१८
निर्मन्थ्यादिषु चैवम्	७-३-१८	पक्षेणेति चेत्	३-७-३४
निर्वपणलक्ष्ण	११-४-५५	पक्षे वोत्पन्नसंयोगात्	४-४-१३
निवीतमित्त मनुष्य	३-४-१	पक्षे संख्या सहस्रवत्	१०-६-३७
निवृत्तिदर्शनाच्च	३-७-१२	पञ्चशरावस्तु द्रव्य	६-४-२८
निवृत्तिर्वाऽर्थलो	६-२-३७	पञ्चशारदीया	११-२-५२
निवृत्तिर्वा कर्मभेदात्	८-१-२४	पञ्चसंचरेष्वर्थं	७-१-१७
निशियज्ञे प्राकृत	१२-२-१४	पत्नीसंयाजान्तत्वं	६-१-२६
निष्कासस्यावमूथे	१२-२-६१	पदकर्माप्रयोजकम्	४-१-२५
निष्क्यवादाच्च	६-४-३३	पयोदोषात्पञ्च	६-५-६
निष्क्यश्च तदङ्ग	४-४-२६	पयो वा कालसामा	६-२-१६
निष्पन्नग्रहणान्नेति	८-३-२६	पयो वा तत्प्रधान	८-२-२२
नेच्छाभिधानात्तद	१०-२-५२	परकृतिपुराकल्प	६-७-२६
नेतरार्थत्वात्	७-१-२१	परन्तु श्रुतिसामान्य	१-१-३१
नैकत्वात्तस्य चानधि	६-६-८	परावच्छेदत्वात्	१०-५-१८
नैकदेशत्वात्	३-६-२२, ११-२-१३	परार्थत्वाच्च शब्दा	६-२-७
नैकव्यपदेशात्	१०-६-४८	परार्थत्वाद् गुणानां	१-४-१६
नैमित्तिकं तु	३-६-१०	परार्थान्येको यजमान	१२-४-३२
नैमित्तिकं तूत्तरा	६-२-२३	परार्थे न त्वर्थं	६-२-४४
नैमित्तिकं वा कर्तृ	३-३-३२	परिक्रयश्च ताद	१०-२-३३
नैमित्तिकमतुल्य	३-६-३६	परिक्रयाच्च लोक	१०-३-५१
नैमित्तिके तु	१०-२-६७	परिक्रयार्थं वा	१०-२-२३
नैमित्तिके विकारत्वात्	४-३-४	परिक्रयाविभागाद्वा	१०-६-६७
नैष्कर्तृकेन संस्वात्	१०-२-२७	परिक्रीतवचनाच्च	१०-२-२५
नोत्तरेणैकवाक्य	११-२-३६	परिधिर्द्वैधर्थत्वाद्	१२-२-२६
नोत्पत्तिशब्दत्वात्	६-३-२१	परिमाण चानियमेन	११-१-३१
नोत्पत्तिसंयोगात्	४-३-३५	परिसंख्या	१-२-४२
नोत्पत्तौ हि	३-७-२४	परिसंख्यार्थं श्रवणं	७-३-२२
नोपदिष्टत्वात्	११-४-५	परुषिदितपूर्णधृत	३-४-११

परेणाज्वेदनाद्दीक्षितः	५-३-२६	पात्नीवते तु पूर्वं	२-३-१६, ३-२-३२
परेषां प्रतिषेधः	१०-२-६६	पात्रेषु च प्रसङ्गः	१२-१-१०
परेषु चाग्रशब्दः	१०-५-६७	पानव्यापच्च तद्वत्	३-४-३२
परो नित्याज्नुवादः	६-४-३४	पार्वणहोमयोस्त्व	६-२-५१
पर्यग्निकरणाच्च	८-२-१२	पाशुकं वा तस्य	१२-२-३१
पर्यग्निकृतानामुत्सर्गं	६-४-४८,	पितृयज्ञः स्वकालत्वा	४-४-१६
	११-२-४६	पितृयज्ञे तु दर्शनात्	६-८-१६
पर्यास इति चा	५-३-८	पितृयज्ञे संयुक्तस्य	६-८-१०
पवमानहविष्वैक	११-४-१२	पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वे	३-२-२६
पवमाने स्यातां	१०-४-१६	पुनराधेयमोदन	६-४-२६
पशावनालम्भ	४-१-२७	पुरस्तादैन्द्रवाय	१०-५-७०
पशाक्पीति चेत्	१०-१-१६	पुरुषकल्पेन वा	६-६-३६
पशावेकहविष्वैवं	१०-७-१	पुरुषश्च कर्मार्थं	३-१-६
पशुगणे कुम्भी	११-४-३१	पुरुषापनयात्स्व	१०-२-२०
पशुगणे तस्य	५-२-१०	पुरुषापयनो वा	१०-२-१६
पशुचोदनायाम	६-८-३०	पुरुषार्थैकसिद्धि	६-२-१
पशुत्वं चैकशब्दात्	६-१-४८	पुरोडाशस्त्वनिर्देशे	५-४-१६
पशुः पुरोडाशविकारः	८-२-१०	पुरोडाशस्य च	८-२-६
पशुसवनीयेषु	१२-२-३०	पुरोडाशाभ्या	१०-८-३५
पशुस्त्वेवं प्रधानं	६-४-१५	पुरोज्नुवाक्याधि	३-७-४४
पशोश्च विप्रकर्ष	१२-२-३२	पूर्वं च लिङ्गदर्शनात्	५-३-२३
पशौ च पुरोडाशे	११-३-१५	पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य	६-४-५०
पशौ च लिङ्गदर्श	८-१-१२	पूर्ववन्तोऽविधाना	१-४-१७
पशौ तु चोदनैक	११-२-१७	पूर्वस्मिश्चामन्त्र	१०-३-१७
पशौ तु संस्कृते	१२-२-१२	पूर्वस्मिश्चावभृथ	११-२-५८
पश्वङ्गं रशना	४-४-२२	पूर्वस्य चाविशिष्ट	८-१-४३
पश्वङ्गं वार्थकर्म	४-४-२७	पूर्वश्च तुल्यकाल	१०-८-८
पश्वतिरेकश्च	११-४-२८	पृथक्त्वनिवेशात्सं	३-२-२१
पश्वतिरेके चकस्य	१०-६-४२	पृथक्त्वाद्विधितः	११-१-३४
पश्वभिधानाद्वा	६-१-४६	पृथक्त्वाद्व्यव	४-३-६
पश्वानन्तर्यात्	८-२-१७	पृथक्त्वे त्वभिधान	४-४-३४
पाकस्य चान्नकारि	१०-३-३७	पृथुलक्षणे चाज्जूप	१०-१-५५
पाणेः प्रत्यङ्गभावा	६-६-१५	पृषदाज्यवद्वाऽङ्गां	१०-६-६४
पाणेस्त्वश्रुतिभूत	११-३-१३	पृषदाज्ये समुच्चय	१०-७-६६

पृष्ठार्थेऽन्यद्रथ	१०-४-४२	प्रकृतेरिति चेत्	७-३-१३
पृष्ठार्थे वाऽतदर्थं	१०-६-२५	प्रकृतेश्चाविकारात्	१०-६-२१
पृष्ठार्थे वा प्रकृति	१०-६-१६	प्रकृतोः पूर्वोक्तत्वाद्	५-२-१७
पृष्ठे रसभोजन	१०-६-२७	प्रकृतौ चाऽभावदर्शनात्	१०-५-३५
पृष्ठ्यस्य गुणपद्वि	१०-६-४	प्रकृतौ तु स्वशब्द	५-१-१५
पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्र	१०-५-८५	प्रकृतौ यथोत्पत्ति	६-२-१
पौर्णमासीवदुपांशु	२-२-६	प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात्	३-६-२
पौर्णमासी वा	५-४-११	प्रकृतौ वा शिष्टत्वात्	१०-५-३७
पौर्णमास्यामनियमो	६-५-३०	प्रकृत्यनुपरोधाच्च	१०-३-१४,
पौर्णमास्यूर्ध्वं	५-४-१७		१०-३-१६
पौर्वापरं चाम्यासे	१०-३-२७	प्रकृत्यर्थत्वात्	११-३-४२
पौर्वापर्ये पूर्वं	६-५-५४	प्रकृत्या च पूर्ववत्	११-१-४५
पौष्णं पेषणं विकृतौ	३-३-३३	प्रक्रमात्तु नियम्ये	६-२-१३
प्रकरणं तु पौर्णमा	२-२-३	प्रक्रमाद्वा नियोगेन	२-४-२२
प्रकरणविशेषाच्च	६-३-१७	प्रस्थाभावाच्च	१-१-२२
प्रकरणविशेषात्तु	३-६-६	प्रगाथे च	६-२-२७
प्रकरणविशेषादसं	३-७-१	प्रणयनन्तु सौमिक	७-३-१६
प्रकरणविशेषाद्वा	३-४-१५	प्रणीतादि तथेति चेत्	६-१-२३
प्रकरणशब्दसामान्या	४-४-१	प्रतिकर्षञ्च दर्शयति	१०-५-६६
प्रकरणात्तु कालः	५-४-१४	प्रतिकर्षो वा नित्या	१०-५-६८
प्रकरणादिति चेत्	४-३-३४	प्रतिदक्षिणं वा कर्तृ	११-४-२
प्रकरणाद्दोत्पत्त्य	३-७-२६	प्रतिनिधिश्च	३-६-३७
प्रकरणान्तरे प्रयोजना	२-३-२४	प्रतिनिधौ चाविकारात्	६-३-२५
प्रकरणाविभागाद्गुभे	३-२-१८	प्रतिपत्तिरिति चेत्	३-२-१४
प्रकरणाविभागाद्वा	३-६-२६	प्रतिपत्तिरिति चेन्न	११-२-६३
प्रकरणाविभागे च	४-४-५	प्रतिपत्तिर्वाऽकर्म	११-२-६५
प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो	१-२-२४	प्रतिपत्तिर्वा तन्न्याय	४-२-२२
प्रकरणो वा शब्दहेतु	६-५-४६	प्रतिपत्तिर्वा यथा	११-३-४४
प्रकृतस्य गुणश्रुतौ	१०-४-२४	प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य	४-२-११
प्रकृतिदर्शनाच्च	१०-५-३८	प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात्	१२-४-१४
प्रकृतिलिङ्गसंयोगा	१०-४-१	प्रतिप्रधानं वा	११-४-४१
प्रकृतिवस्त्वस्य चानुप	१०-३-२	प्रतिप्रस्थातुश्च	१०-७-२२
प्रकृतिविकृत्योश्च	१-१-१०	प्रतियूपं च दर्शनात्	४-२-५
प्रकृतिः कालास्तेः	११-३-४८	प्रतिषिद्धं चाविशेषण	६-३-२०

प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा	१०-८-४५	प्रधाने श्रुतिलक्षणम्	६-४-७
प्रतिषिद्धाचोर्ध्वं	६-५-४२	प्रभुत्वादातिवर्ज्यं	१२-४-४२
प्रतिषिद्धयविधानाद्वा	१०-८-५७	प्रयाजवदिति चेन्ना	१०-४-११
प्रतिषेधवचनोत्तर	१०-७-४०	प्रयाजानां त्वेकदेश	१०-७-४६
प्रतिषेधश्च कर्मवत्	१०-२-३४	प्रयाजेऽपीति चेत्	६-२-५६
प्रतिषेधस्य त्वरायु	१०-७-४२	प्रयाजे च तन्न्याय	१०-१-१४
प्रतिषेधः प्रदेशे	१०-७-१	प्रयाणे स्वार्थनिर्वृत्तेः	११-४-५२
प्रतिषेधः स्यादिति	१०-७-२८	प्रयुज्यत इति चेत्	६-२-१२
प्रतिषेधाच्च	१०-८-२२	प्रयोगचोदनाभावाद्	१-३-३०
प्रतिषेधाच्च पूर्वं	३-६-४६	प्रयोगचोदनेति चेत्	११-२-३६
प्रतिषेधादकर्म	१०-८-१०	प्रयोगशास्त्रमिति	१-३-११
प्रतिषेधेष्वकर्मत्वा	६-२-२०	प्रयोगस्य परम्	१-१-१४
प्रतिषेधो वा विधिपूर्वं	१०-७-३७	प्रयोगान्तरे वोभया	६-५-५२
प्रतिहोमश्चेत्साय	६-५-४३	प्रयोगे पुरुषश्रुते	६-२-३
प्रतीयत इति चेत्	४-१-१३	प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्र	१-३-२४
प्रत्यक्षाद्गुणसंयो	७-३-४	प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्र	१-३-२४
प्रत्यक्षोपदेशाच्च	३-५-३३	प्रयोजनाभिसम्बन्धा	११-१-१
प्रत्यङ्गं वा ग्रहवद	१०-६-२	प्रवृत्तत्वात्प्रवर	३-५-४६
प्रत्ययं चापि दर्शयति	२-४-३०	प्रवृत्तवरणात्प्रति	१२-१-३५
प्रत्ययाच्च	४-३-१६	प्रवृत्तित्वादिष्टेः	८-१-३
प्रत्ययात्	१०-३-४८	प्रवृत्तेऽपीति चेत्	६-३-३६
प्रत्यर्थं चाऽभिसंयोगा	६-१-३	प्रवृत्ते प्रापणान्नि	६-५-१३
प्रत्यर्थं श्रुतिभाव	६-२-४	प्रवृत्ते वा प्रापणा	६-५-२६
प्रत्यहं सर्वसंस्कारः	१०-६-६६	प्रवृत्तौ चापि ताद	८-१-२१
प्रथमं वा नियम्यते	११-१-४३	प्रवृत्त्या कृतकालानां	५-१-२५
प्रथमस्य वा कालवचनम्	११-२-२१	प्रवृत्त्या तुल्यकाला	५-१-८
प्रथमोत्तमयोः प्रणय	७-३-२३	प्रवृत्त्या नियतस्य	७-४-१६
प्रदानं चापि सादन	१०-५-७५	प्रशंसा	१-४-२६
प्रदानदर्शनं श्रपणे	६-४-३०	प्रशंसा च विहरणा	५-३-४१
प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं	१०-२-४	प्रशंसार्थमजाभि	१०-८-६८
प्रधानकर्माथत्वा	११-१-५३	प्रशंसा सोमशब्दः	८-२-६
प्रधानाच्चान्यसं	१०-१-५	प्रशंसाऽस्यभिधानात्	६-४-२२
प्रधानापवर्गो वा	११-३-१७	प्रसिद्धग्रहणत्वाच्च	१०-१-३५
प्रधानेनाभिसंयोगाद्	४-३-४०	प्रस्तरे शाखाश्रयण	६-४-४३

प्रकाशो च तथेति	१०-३-६३	फलदेवतयोश्च	६-१-४
प्राकृतं वा नामत्वात्	७-३-२१	फलनिवृत्तिश्च	२-१-२६
प्राकृताच्च	५-२-२२	फलमात्रेयो निर्देशा	४-३-१८
प्रागपरोधान्मल	३-४-१८	फलवत्तां च दर्शयति	६-१-२१
प्रागाधिकं तु	६-२-२५	फलवदोक्तहेतुत्वा	४-४-७
प्राग्लोकम्पृणायाम्	५-३-२०	फलश्रुतेस्तु कर्म	२-२-२५
प्राजापत्येषु चाम्ना	१०-४-६	फलसंयोगस्त्वचोदि	४-३-३८
प्रातरनुवाके च	३-७-४५	फलसंयोगात्	३-७-६
प्रातस्तु षोडशिन	६-५-४४	फलस्य कर्मनिष्पत्ते	१-२-१७
प्रापणाच्च निमित्त	५-१-३३	फलाभावादिति चेत्	११-१-१२
प्राप्तिस्तु रात्रि	१०-५-१३	फलारम्भनिवृत्तेः	११-१-३२
प्राप्तेर्वा पूर्वस्य	१०-७-४१	फलार्थत्वात्कर्मणः	६-१-४
प्रायश्चित्तं निमित्तेन	२-४-२१	फलार्थत्वात्	६-१-२०
प्रायश्चित्तमधिकारे	६-५-४५	फलार्थत्वाद्वा	६-२-१४
प्रायश्चित्तमापदि	६-६-३५	फलैकत्वादिष्टि	११-२-२२
प्रायश्चित्तविधाना	६-३-७, ६-६-२६	फलोत्साहाजविशेषात्	६-१-१३
प्रायश्चित्तेषु चैका	१२-३-१६	फलोपदेशो वा
प्रारम्भविभागाच्च	१२-२-२१		
प्राश्येत वा	१०-६-३३	ब	
प्रासङ्गिकं च	५-१-२८	बहिराज्ययोरसंस्कारे	१-४-१०
प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं	६-४-२६	बहिष्पवमाने तु	१०-५-२६
प्रासनवन्मैत्रावरुण	४-२-१६	बहुवचनात् बहूनां	१०-६-४६
प्राधान्यवचनं मैत्रा	३-७-४३	बहुवचनेन सर्व	११-१-३८
प्रायेषु च परा	३-८-२२	बहूनां तु प्रवृत्ता	६-३-२२
प्रोक्षणाच्च	८-२-११	बहूनामिति चैकस्मि	१०-६-५०
प्रोक्षणीष्वर्थसंयो	१-४-११	बहूनामिति तुल्येषु	१०-६-५७
		बहुष्वत्वाच्च	११-१-४६
		बाहुप्रशंसा वा	६-४-२३
फ		बुद्धशास्त्रात्	१-२-३३
फलं च पुरुषार्थ	३-१-५	ब्रह्मदानेऽवशिष्ट	१०-३-७०
फलं चाकर्मसन्निधौ	२-३-२५	ब्रह्मापीति चेत्	१२-१-३६
फलं तु तत्प्रधानायां	४-३-३	ब्राह्मणविहितेषु	१२-३-३१
फलं तु सह चेष्टया	३-१-१०	ब्राह्मणस्य तु सोम	६-२-३२
फलकामो निमित्त	६-२-६	ब्राह्मणा वा तुल्य	३-५-५३
फलचमसविधाना	१२-४-४४	ब्राह्मणानां वेतरयो	६-६-१८
फलचमसो नैमित्तिको	३-५-४७		

	म	मन्त्राणां कर्मसंयोगात्	१२-३-१८
भक्तिरसन्निधाव	३-८-४३	मन्त्राणां सन्निपाति	१२-३-२६
मक्त्यानिष्क्रियवादः	४-४-२८	मन्त्राश्च सन्निपातित्वात्	१२-१-१८
भक्त्या वाऽयज्ञ	७-३-३४	मन्त्रेष्ववाक्यशेष	१०-८-२०
भक्त्येति चेत्	८-३-३४, ११-१-४१	मन्त्रोपदेशो वा	१२-३-२१
भक्षाणां तु प्रीत्यर्थ	१०-२-१३	मांसं तु सवनीयानां	३-८-४२
भक्षार्थो वा द्रव्ये	३-४-५०	मांसपाकप्रतिषेधश्च	१२-२-२
भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः	३-४-४८	मांसपाको विहित	१२-२-६
भागित्वात्तु नियम्यते	७-४-७	माघी वैकाष्टका	६-५-३२
भागित्वाद्वा गवां	१०-३-४७	मानं प्रत्युत्पादयेत्	१०-६-७६
माषास्वरोपदेशेषु	१२-३-२०	मानसमहरन्तरं	१०-६-३४
भूमा	१-४-२७	मासि ग्रहणं च तद्वत्	१०-८-२४
भूयस्त्वेनोभयश्रुति	३-३-१०	मासि ग्रहणमभ्यास	१०-८-२८
भृतत्वाच्च परि	१२-१-३२	मिथश्चानर्थसम्बन्ध	१-४-१५
भेदस्तु कालभेदाच्चो	११-१-६८	मिथश्चानर्थसम्बन्धात्	३-१-२३
भेदस्तु गुणसंयोगाद्	१०-६-६८	मिथो वा विप्रतिषेधाच्च	७-४-६
भेदस्तु तद्भेदात्	११-४-२५	मुख्यं वा पूर्वश्चोदना	१२-२-२३
भेदस्तु सन्देहाद्देव	११-४-३२	मुख्यक्रमेण वाङ्गा	५-१-१४
भेदार्थमिति चेत्	६-४-१४	मुख्यस्य शब्दाभिसं	४-१-२४
भोजने च तत्संख्यं	१०-५-५७	मुख्यस्य धारणं वा	११-३-३५
	म	मुख्याद्वा पूर्वं	३-४-४७
मधु न दीक्षिता	१०-६-३२	मुख्याधिगमे मुख्य	६-३-३५
मधूदके द्रव्यसामान्या	८-१-४०	मुख्यानन्तर्यं मा	५-२-१८
मध्यमयोर्वा गत्यर्थ	७-३-२४	मुख्यार्थो वा ऽङ्गस्या	३-८-३५
मध्यमायां तु वचनाद्	५-३-१६	मुख्येन वा नियम्यते	१०-५-६०
मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये	४-३-३	मुख्यो वाऽ विप्रति	१२-४-३४
मनोतायां तु	१०-४-४१	मुष्टिकपालावदाना	५-२-४
मन्त्रतस्तु	५-१-१६	मुष्टिलोपात्तु संख्या	१०-२-६२
मन्त्रवर्णश्च तद्वत्	१०-१-१३	मेघपतितत्वं स्वामि	६-३-३४
मन्त्रवर्णाच्च	६-२-५४		य
मन्त्रविशेषनिर्देशा	१०-४-२६	य एतेनेत्यग्नि	५-३-३७
मन्त्रश्चाऽकर्मकरणा	३-८-१५	यजति चोदनादहीन	१०-६-६१
मन्त्रस्य चार्थवत्वात्	५-३-१२	यजति चोदनाद्रव्य	४-२-२७
मन्त्राणां करणार्थ	१२-३-२५	यजतिस्तु द्रव्यफल	२-३-१४

यजमानसंस्कारो वा	१२-३-३४	याज्यानुवाक्यासु	१२-४-३
यजुर्वृक्तेऽध्वर्यो	१०-३-७४	याज्यापनयेनाप	३-५-४४
यजूषि वा तद्रूपत्वात्	२-१-४०	याज्यावषट्कार	१२-३-३२
यज्ञकर्म प्रधानं	६-१-१	याञ्चाक्रमणम	६-८-२६
यज्ञस्य वा तत्संयो	६-१-२१	यावच्छक्यं तावद्वि	१०-६-१०
यज्ञायुधानि धार्येन्	११-३-३३	यावज्जीविकोऽभ्यासः	८-४-१
यज्ञोत्पत्त्युपदेशे	१२-१-४२	यावत् श्रुतीति चेत्	१०-७-६२
यत्रेतिवाऽर्थत्वात्	२-१-२१	यावत्स्वं वाऽन्य	११-१-४७
यत्स्थाने वा तद्गीतिः	६-१-५५	यावदर्थं वाऽर्थशेष	१०-६-७४
यथा देवतं वा	३-२-२८	यावदुक्तम्	८-३-२४
यथा निवेशञ्च प्रकृति	१०-५-६	यावदुक्तं वा कर्मणः	२-३-१३
यथा प्रदानं वा	५-४-३	यावदुक्तं वा कृत	१०-५-३०
यथार्थं त्वन्या	६-३-१३	यावदुक्तमुपयोगः	१०-२-४६
यथार्थं वा शेषभूत	३-२-१६	यूपवदिति चेत्	१०-४-४४
यथाश्रुतीति चेत् ६-४-२२, १०-७-७१	१०-७-७१	यूपश्चाकर्मकाल	११-३-३
यथोक्तं वा विप्रति	१०-४-३१	यूपाङ्गं वा तत्संस्का	४-४-२३
यथोक्तं वा सन्निधानात्	६-१-४६	येषां तूत्पत्तावर्षे	२-१-४
यदभीज्या वा तद्विषयी	६-२-५८	येषां वाऽपरयोर्होम	८-४-२४
यदि च हेतुरवतिष्ठेत	१-२-३०	येषामुत्पत्तौ स्वे	२-१-३
यदि तु कर्मणो	११-२-४	यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते	२-१-७
यदि तु ब्रह्मस्तदूनं	१०-३-७२	यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते	२-१-८
यदि तु वचनात्तेषां	१०-२-४७	योगसिद्धिर्वा	४-३-२८
यदि तु सान्नाय्यं	१०-८-४२	योगाद्वा यज्ञाय	१२-२-१३
यदि वाऽप्याभिधान	७-१-८	योनिशस्या च	७-२-१७
यदि वाऽविशये नियमः	८-३-३१	यो वा यजनीयेऽहनि	११-३-३६
यद्युद्गाता जघन्यः	६-५-५५	यौप्यस्तु विरोधे	१२-२-२७
यष्टुर्वा कारणग	३-५-४८		
यस्मिन् गुणोपदेशः	१-४-३	रक्षना च लिङ्गदर्श	३-६-३१
यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य	४-१-२	रसप्रतिषेधो वा	६-४-३८
यस्य लिङ्गमर्थसंयो	८-१-१	रूपं वाऽशेषभूत	७-३-२६
यस्य वा प्रभुः स्यादित	६-७-२	रूपात्प्रायात्	१-२-११
यस्य वा सन्निधाने	१०-३-४१	रूपान्यत्वान्न	६-८-४०
याजमानस्तु तत्प्रधान	३-८-४	रूपालिङ्गाच्च	६-८-३८
याजमाने समाख्या	३-८-०		

	ल	लिङ्गाच्च	३-२-८, ३-३-३,
लक्षणामात्रमितरत्	६-५-१४		५-३-३८, ७-३-८,
लक्षणार्था शृतश्रुतिः	६-५-६		७-४-१४, ८-२-२८
लाघवातिपत्तिश्च	११-४-६	लिङ्गाच्चेज्या	६-६-३७
लिङ्गं मन्त्रचिकिर्षा	६-३-७	लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात्	६-१-३०
लिङ्गं संघातधर्म	७-४-१६	लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः	८-४-२६
लिङ्गक्रमसमाख्यानात्	३-२-१६	लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य	१-३-१८
लिङ्गदर्शनाच्च	१-१-२३, २-२-८,	लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे	१०-६-७३
२-३-६,	२-३-१५,	लिङ्गेन वा नियम्येत	७-४-४
३-४-३६,	३-४-४५,	लिङ्गोपदेशश्च	१-२-५१
३-६-१३,	३-६-२६,	लोकवदिति चेत्	१-२-२०
३-८-२७,	४-१-१०,	लोके कर्मणि वेद	६-२-१६
५-३-१८,	५-४-४,	लोके कर्मार्थलक्षणम्	११-१-२६
६-१-५२,	६-६-१७,	लोके सन्नियमा	१-१-२६
७-१-१६,	७-२-१०,	लौकिके दोषसंयोगाद्	६-३-६
८-१-४,	८-४-१३,	लौकिकेषु यथाकामो	११-३-३२
९-२-२२,	९-३-२,		
९-३-३०,	१०-१-१५,	व	
१०-१-४१,	१०-३-४६,	वंत्रीषान्तु प्रधान	६-४-७
१०-५-२,	१०-५-११,	वचनं त्वाज्यभक्षस्य	१०-२-१५
१०-५-८७,	१०-६-२६,	वचनं परम्	३-३-४५, १२-४-४१
११-२-३१,	११-२-४४,	वचनं वा सत्रत्वात्	१०-२-४३
११-४-१३,	१२-२-१०,	वचनं वा हिरण्यस्य	१०-२-१६
	१२-४-४	वचनमिति चेत्	८-३-२३, ६-१-५७
लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्म	२-४-३	वचनाच्च	३-५-३८
लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च	६-२-२८	वचनाच्चाऽन्याय्य	६-३-३१
लिङ्गमवशिष्टं संख्याया	१०-५-५	वचनात्कामसंयोगेन	११-४-१०
लिङ्गमवशिष्टं सर्व	२-४-२४	वचनात्तु ततोऽन्यत्वम्	७-४-३
लिङ्गविशेषनिर्देशात्	३-२-२७,	वचनात्तु तन्त्रभेदः	११-४-१४
	६-१-६, ६-१-४५	वचनात्तु द्वादशाहे	५-३-१०
लिङ्गसमवायात्	१-४-२८	वचनात्तु द्विसंयोग	६-६-१२
लिङ्गसमाख्यानाभ्यां	३-२-२४	वचनात्तु परि	५-२-७
लिङ्गसाधारण्याद्दि	८-१-२७	वचनात्तु समुच्चयः	३-६-४५
लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वा	७-४-१२	वचनात्त्वयथार्थ	३-२-३
लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे	७-४-११	वचनात्परिवृत्ति	१०-५-८६

वचनात्संस्था	१०-५-५१	वाक्यनियमात्	१-२-३२
वचनात्सर्वपेषणम्	३-३-४१	वाक्यशेषत्वात्	३-४-५
वचनादतदन्त	१०-६-४४	वाक्यशेषश्च तद्वत्	३-८-१०
वचनादनुज्ञातभक्ष	३-५-४०	वाक्यशेषो वा क्रतु	१०-८-१६
वचनादसंस्कृतेषु	१२-४-२१	वाक्यशेषो वा दक्षिणा	१२-२-७
वचनादितरेषां स्यात्	३-८-२, ३-८-११	वाक्यसंयोगाद्भोक्तृर्षः	११-३-५३
वचनादिति चेत्	३-२-१७, ६-६-१६, १२-४-२३	वाक्यानां च समाप्त	३-१-२५
वचनादिष्टपूर्वत्वम्	५-४-५	वाक्यानां तु विभक्त	६-२-१७
वचनाद्धर्मविशेषः	२-१-४१	वाक्यार्थश्च गुणार्थवत्	४-३-१२
वचनाद्रथकारस्या	६-१-४४	वाक्यासमवायात्	२-४-१७
वचनाद्वा शिरोवत्	६-६-२	वाग्विसर्गो हविष्कृता	११-४-१४
वचनाद्विनियोगः स्यात्	६-२-३१	वाजिने सोमपूर्वत्वं	८-२-१
वचनाद्वैकाल्यं स्यात्	५-४-२४	वाससि मानोपाव	१०-६-७७
वचनानि त्वपूर्वत्वात्	३-५-२१, १०-४-२०	वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्व	६-६-२४
वचनानीतराणि	८-२-७	वासो वत्सञ्च	१०-३-३४
वचने हि हेत्वसाम	४-१-४१	विकल्पवच्च दर्शयति	१२-३-१४
वत्ससंयोगे व्रतचोदना	६-४-३४	विकल्पस्त्वेका	१०-२-१०
वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात्	६-४-३७	विकल्पे त्वर्थकर्म	१२-४-१६
वनिष्ठुसन्निधाना	६-४-२१	विकल्पो वा प्रकृतिवत्	६-३-४४
वपानां चानभिधारण	११-२-५१	विकल्पो वा समत्वात्	१०-५-३
वरणमृत्विजामान	१०-२-३२	विकल्पो वा समुच्चय	१२-३-३३
वर्जने गुणभावि	६-४-३६	विकारस्तत्प्रधाने	६-१-४१
वर्णान्तरमविकारः	१-१-१६	विकारस्तु प्रदेश	६-४-१०
वर्णे तु बादरि	६-२-३३	विकारस्त्वप्रकरणे	१०-३-३२
वशावद्वाऽगुणार्थं स्यात्	२-१-१५	विकारस्थान इति चेत्	११-३-५०
वशायामर्थसमवायात्	२-१-२०	विकारकरणाग्रहणे	१२-३-२२
वषट्कारश्च कर्तुवत्	३-२-३७	विकारः पवमानवत्	१२-२-७
वषट्काराच्च भक्ष	३-५-३१	विकारसन्नुभयतो	६-७-१८
वषट्कारे नानार्थत्वा	१२-३-३५	विकाराच्च न भेदः	१२-१-४
वसतीवरीपर्यन्तानि	११-४-२२	विकारास्तु कामसंयोगे	३-६-४३
वसाहोमस्तन्त्र	११-२-२३	विकारे चाश्रुतित्वात्	१०-८-६०
		विकारे तु तदर्थं	१०-८-१८
		विकारे त्वनुयाजानां	५-२-१६
		विकारो नोत्पत्ति क	६-८-४१

विकारो वा तदर्थत्वात्	६-३-११	विधिश्चानर्थकः	१-२-२३
विकारो वा तदुक्त	१०-४-२०	विधिस्त्वपूर्वत्वात्	३-४-३
विकारो वा तदुक्ते हेतुः	६-३-६	विधीनां त्वेकवाक्य	१-२-७
विकारो वा प्रकरणात्	२-३-८	विधेस्तु तत्र भावात्	१०-३-२०
विकृतिः प्रकृति	५-१-१६	विधेस्तु विप्रकर्षः	१०-६-१४
विकृते प्रकृतिकाल	५-४-२२	विधेस्त्वैकश्रुतित्वाद्	११-१-१६
विकृतो चापि तद्वच्च	६-३-२३	विधेस्त्वितरार्थ	११-१-६३
विकृतो त्वनियमः	१०-७-६४	विधेः कर्मापवगित्वा	४-२-२६
विकृतौ प्राकृतस्य	१०-७-२४	विधेः प्रकरणान्तरे	१०-१-१
विकृतौ शब्दत्वात्	१०-३-१	विधौ च वाक्यभेदः	१-२-२५
विकृतौ सर्वार्थः	३-८-३४	विधौ तु वेदसंयोगा	६-७-२६
विक्रयी त्वन्यः	३-७-३१	विध्यतिदेशात्	१०-३-१६
विच्छेदः स्तोत्र	१०-५-४८	विध्यन्तो वा प्रकृति	७-४-१०
विद्यां प्रति विधानाद्वा	१२-३-१६	विध्यपरार्थे च	६-३-६
विद्यानिर्देशान्नेति	६-१-३६	विध्यैकत्वादिति	११-३-३०
विद्याप्रशंसा	१-२-१५	विनिहृते न मुष्टी	६-५-१८
विद्यायां धर्मशास्त्रम्	२-४-१४	विप्रतिपत्तौ तासामा	१०-१-३२
विद्यावचनमसंयो	१-२-४८	विप्रतिपत्तौ वा	५-१-१८
विधि तु वादरायणः	१०-८-४४	विप्रतिपत्तौ विकल्पः	६-३-१६
विधिकोपश्लेषदेशे	३-२-६	विप्रतिपत्तौ हविषा	८-१-३२
विधित्वं चावशिष्टं	१०-३-११	विप्रतिषिद्धधर्माणां	१२-२-२२
विधित्वान्नेति	१०-६-१६	विप्रतिषिद्धे च	४-४-२१
विधिना चैकवाक्य	३-४-१६	विप्रतिषेधाच्च	१०-२-७०,
विधिनिगमभेदात्	१०-४-३०		१२-१-२१
विधिप्रत्ययाद्वा	५-३-४२	विप्रतिषेधाच्च सम	
विधिमन्त्रयोरैका	२-१-३०	विप्रतिषेधात्ताभिः	४-४-२१
विधिरप्येकदेशे	६-३-४७	विप्रतिषेधात्क्रिया	१०-३-२२
विधिरिति चेत्	८-१-७, ८-४-२२	विप्रतिषेधात्तु गुण्य	६-७-३७
विधिरिति चेन्न	११-१-७०	विप्रतिषेधे करणः	३-८-२१
विधिवत्प्रकरणा	११-१-६४	विप्रतिषेधे तद्वचनात्	१०-२-६८
विधिर्वासंयोगान्त	३-४-१३	विप्रतिषेधे परम	१२-४-३६
विधिर्वा स्याद्	१-२-१६	विप्रयोगे च दर्शनात्	३-८-१६
विधिशब्दस्य मन्त्र	१०-४-२१	विभक्ते वा ऽ समस्त	१०-६-५
विधिशब्दाश्च	१-२-५३	विभज्य तु संस्कार	१०-६-७२

विमवाद्वा प्रदीप	११-१-६०	वृद्धिश्चकर्तृभूमना	१-१-११
विभागं चापि दर्श	१०-३-५२	वृधन्वान्पवमान	१०-४-२८
विभागश्रुतेः प्रायश्चित्त	६-५-४६	वेदसंयोगात्	३-४-२२
विरोधश्चापि पूर्वं	२-४-६	वेदसंयोगान्त	३-३-८
विरोधित्वाच्च	१०-७-६६	वेदांश्चैके सन्निकर्ष	१-१-२७
विरोधिनाञ्च तत्	१०-७-६८	वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः	११-४-४७
विरोधिना त्वंसंयोगा	२-४-३२	वेदिसंयोगादिति चेत्	११-२-४५
विरोधिनामेकश्रुती	१०-७-५१	वेदोदेशात्पूर्वं	३-७-५०
विरोधे च श्रुति	३-८-३२	वेद्यद्धननव्रतं विप्रति	१२-२-१६
विरोधे त्वनपेक्ष्यं	१-३-३	वैगुण्यादिध्मा	१२-२-१८
विरोध्यग्रहणात्तथा	१०-७-२४	वैगुण्यान्तेति चेत्	६-१-३०, ६-५-२३
विवृद्धिः कर्मभेदात्पृ	५-३-१	वैरूपसामा क्रतुसंयोगा	१०-६-१५
विवृद्धिर्वा नियगा	५-२-१४	वैश्वदेवे विकल्प	१-४-१३
विष्णुर्वा स्याद्वीत्रा	१०-८-५३	वैश्वानरश्च नित्यः	४-४-१२
विशये प्रायदर्शनात्	२-३-१६	वैश्वामित्रस्य हीत्र	६-६-२६
विशये लौकिकः	७-३-३०	व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति	३-३-६
विशेषदर्शनाच्च	२१-२-४	व्यपदेशभेदाच्च	२-१-१७
विशेषार्था पुनः श्रुतिः	११-४-८	व्यपदेशश्च तद्वत्	२-२-७, ८-२-८
विशेषा वा तदर्थ	६-१-४७	व्यपदेशश्च तुल्य	३-६-४२
विश्वजिति वत्स	१२-३-१	व्यपदेशाच्च	२-१-३६, ३-८-५, ३-८-२६
विश्वजिति सर्वपृष्ठे	७-३-७		
विश्वजिदप्रवृत्ते भावः	६-४-३२	व्यपदेशादपकृष्येत	३-४-१६
विहारदर्शनं विशिष्ट	७-४-२०	व्यपदेशादितरेषां	३-८-१४
विहारप्रकृतित्वाच्च	१०-६-६	व्यपदेशाद्देवतान्त	१०-१-१७
विहारप्रतिषेधाच्च	१०-६-७	व्यपवर्गं च दर्शयति	२-४-४
विहारस्य प्रभुत्वा	६-६-२७	व्यवस्था वाऽर्थसंयो	३-१-२७
विहारो लौकिकानाम्	१२-२-१	व्यवस्था वाऽर्थस्य	३-१-१७
विहितप्रतिषेधात्	२-४-२६	व्यवायान्नानुष	२-१-४६
विहितप्रतिषेधौ वा	६-४-३५	व्याख्यातं तुल्यानां	११-१-६७
विहितस्तु सर्वधर्मः	३-१-८	व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः	३-४-५१
विहताम्नानान्तेति	७-१-२०	व्यापन्नस्याप्सु	६-५-४८
वीते च कारणे	४-३-२१	व्युद्धृत्याऽऽसादनं	१०-१-५८
वीते च नियम	४-३-२४	व्यूढो वा लिङ्ग	१०-५-८०
वृद्धिदर्शनाच्च	११-४-३६	व्यूर्ध्वं भाग्न्य	६-५-१७

व्युद्धवचनं च	१०-१-२४	शास्त्रस्था वा	१-३-६
व्रतधर्माच्च लेप	६-४-३७	शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन	६-२-२१
		शास्त्रात्तु विप्रयोग	६-३-४१
शंक्ते च निवृत्ते	१०-३-३३	शिष्टत्वाच्चेतरासां	१०-३-३१
शंक्ते चानुषोषणात्	८-१-६	शिष्टाकोपेऽविरुद्ध	१-३-५
शंगौ च सर्वपरिदाना	३-४-१७	शिष्टत्वा तु प्रतिषेधः	१०-८-६
शंथियडान्तत्वे विकल्पः	१०-७-३८	शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात्	६-७-६
शकलश्रुतेश्च	४-२-४	शूताशूतोपदेशाच्च	१०-७-६
शब्दपृथक्त्वाच्च	२-१-२५	शूतेऽपि पूर्ववत्त्वा	१२-४-१५
शब्दभेदान्नेति	११-१-७	शूतोपदेशाच्च	६-४-४०
शब्दमात्रमिति चेत्	७-२-४	शेष इति चेत्	४-३-६
शब्दवत्तूपलभ्यते	४-१-१५	शेषदर्शनाच्च	३-४-४१
शब्दविप्रतिषेधाच्च	५-१-२६	शेषप्रतिषेधो वाऽर्था	६-४-४६
शब्दविभागाच्च	११-२-३२	शेषभक्षाश्च तद्वत्	१०-२-२८
शब्दसामञ्जस्यमिति	११-३-३६	शेषभक्षास्तथेति	१२-१-३१,
शब्दसामर्थ्याच्च	८-४-१६		१२-१-३३
शब्दानाञ्च सामञ्ज	७-२-२१	शेषवदिति चेत्	१२-१-२५
शब्दानां चासामञ्ज	७-२-१२	शेषवद्वा प्रयोजनं	११-१-२
शब्दान्तरत्वात्	८-४-१२	शेषश्च समाख्यानात्	३-४-३७
शब्दान्तरे कर्मभेदः	२-२-१	शेषस्तु गुणसंयुक्तः	३-१-२६
शब्दार्थत्वात् नैवं	६-२-६	शेषस्य हि परार्थ	११-१-४
शब्दार्थत्वाद्विकारस्य	६-२-१५	शेषः परार्थत्वात्	३-१-२
शब्दार्थश्च तथा लोके	११-१-३२	शेषाणां वा चोदनैक	१०-४-२२
शब्दार्थश्चादि लोकवत्	१०-३-४४	शेषाद् द्वयवदाननाशे	६-४-१
शब्दे प्रयत्ननिष्पत्ते	१-३-२५	शेषाः प्रकरणे	३-४-२५
शब्दस्त्वर्थविधि	७-२-२	शेषे च समत्वात्	१०-२-३०
शमिता च शब्दभेदात्	३-७-२८	शेषे ब्राह्मणशब्दः	२-१-३३
शरेष्वपीति चेत्	१०-७-५३	शेषे यजुः शब्दः	२-१-३७
शाखायां तत्प्रधानत्वात्	४-२-७,	शेषे वा समवैति	१०-७-१३
	४-२-८	श्येन-इला-कश्यप	६-४-२४
शाभिन्ने च पशुपुरो	१२-१-१२	श्येनस्येति चेत्	७-१-१४
शास्त्रं चैवमनर्थकं	७-२-६	श्रपणं चाऽग्निहोत्रस्य	१२-१-१३
शास्त्रदृष्टबिरोधाच्च	१-२-२	श्रपणां त्वपूर्वं	६-४-४२
शास्त्रफलं प्रयोक्तारि	३-७-१८	श्राद्धवदिति चेत्	६-८-१५

श्रुतितो वा लोक	१०-६-८	संयुक्ते तु प्रक्रमात्	५-२-६
श्रुतिप्रमाणत्वा	६-३-१३, ७-१-१	संयोगे वाऽर्थापत्ते	१०-४-३३
श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं	५-१-१	संवत्सरो वा विचालि	६-७-३८
श्रुतिलिङ्गवाक्य	३-३-१४	संवपनं च तादर्थ्यात्	१०-१-५२
श्रुतिश्चैषां प्रधान	११-२-६	संसर्गरसनिष्पत्ते	४-१-२३
श्रुतेर्जाताधिकार	३-३-१	संसर्गित्वाच्च	६-३-४१
श्रुतेश्च तत्प्रधा	६-४-४५	संसर्गिषु चार्थस्या	६-३-२६
श्रुत्यपायाच्च	४-२-६	संसर्गो चापि दोषः	१२-४-२२
श्रुत्यनर्थक्यमिति	१०-७-५६	संस्कारं प्रतिभावाच्च	६-४-४७
श्वस्त्वेकेषां तत्र	३-६-२०	संस्कारकत्वादचोदि	३-२-२
श्वः सुत्या वचनं	११-४-२७	संस्कारप्रतिषेधश्च	६-४-३१
		संस्कारप्रतिषेधो वा	११-२-५०
ष		संस्कारश्च प्रकरणे	६-२-६
षट्चितिः पूर्ववत्	४-४-१४	संस्कारश्चाप्रकरणे	२-३-१२
षडहाद्वा तत्र हि	७-३-७	संस्कारसामर्थ्याद्	१०-३-२१
षडभिर्दीक्षयतीति	१०-३-२३	संस्कारस्तु न भिद्यते	२-२-२०
षडविंशतिभ्यासेन	६-४-१	संस्कारस्य तदर्थं	६-१-३५
षोडशिनो वैकृतत्वं	१०-५-३४	संस्काराणां च दर्श	११-२-५४
षोडशी चोक्थ्यसंयो	५-१-३५	संस्काराद्वा गुणाना	३-१-१६
स		संस्कारास्तु पुंषु	३-८-३
संख्या तु चोदनां	१०-२-६४	संस्कारात्वावर्ते	११-३-४
संख्यात्वेवं प्रधानं	६-४-१३	संस्कारे च तत्प्रधान	४-२-२६, ६-१-३२, १२-४-८
संख्याभावात्	१-१-२०	संस्कारे चान्यसंयो	१०-४-१०
संख्यायाश्च	१०-५-१७	संस्कारे तु क्रिया	१०-३-१८
संख्यायाश्च शब्द	८-३-१८	संस्कारे युज्यमानानां	६-१-२
संख्यायुक्तं क्रतोः	३-३-३१	संस्कारो वा चोदितस्य	१०-४-३८
संख्याविहितेषु	१२-३-३०	संस्कारो वा द्रव्यस्य	१०-२-२६
संख्यासामञ्जस्यात्	१०-६-४१	संस्कृतं स्यात्	७-३-३३
संख्यासु तु विक	१२-४-६	संस्कृतत्वाच्च	३-४-४३
संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगा	२-२-२२	संस्कृते कर्मसंस्कारा	५-३-२१
संज्ञोपबन्धात्	२-२-१४	संस्थागणेषु तदभ्यासः	८-३-८
सं प्रैषे कर्मगर्हा	१-२-४५	संस्था तद्देवतात्वात्	६-४-५६
संयवनार्थानां या	४-२-१५	संस्थाश्च कर्तव्यत्वाद्वा	३-३-२७
संयुक्तं वा तदर्थं	३-६-३३		
संयुक्तस्त्वर्थशब्देन	२-३-१८		

संस्थास्तु समान	३-६-४१	सन्ततवचनाद्वा	१२-३-२६
स आह्वनीयः स्याद	१२-४-२६	सन्तर्दनं प्रकृतौ	३-३-२३
स कपाले प्रकृत्या	१०-१-४५	सन्तापनमघः श्रपणात्	१०-१-५३
स कुल्यः स्यादिति	६-७-३५	सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वा	३-१-२१
सकृत्तु स्यात्	११-१-२२	सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्	१-४-२६
सकृत्त्वं चैकध्वं	६-३-३२	सन्नहनञ्च वृत्त	१२-१-२६
सकृदिज्यां कामु	११-१-६२	सन्नहनहरणे तथेति	१२-१-४५
सकृदिति चेत्	११-४-३६	सन्निधानविशेषाद्	३-६-३६
सकृदाऽऽरम्भ	६-१-३५	सन्निधौ त्वविभागात्	२-३-२६
सकृद्वा नगरणैक	११-१-३०	सन्निपातश्चेद्य	५-२-२३
सकृन्मानं च	११-३-६	सन्निपातात्तु	६-६-६
सगुणस्य गुणलोपे	१०-४-३४	सन्निपाते प्रधाना	५-२-१
सतः परमदर्शनं	१-१-१३	सन्निपाते विरोधिना	८-४-२७
सतः परमविज्ञानम्	१-२-४६	सन्निपातेऽवैगुण्या	६-६-१
स तद्धर्मा स्यात्	६-३-२६	सन्निवापं च दर्शं	६-६-३२,
सति च नैकदेशेन	१०-६-३७		१०-६-४६
सति चाभ्यासशास्त्र	११-१-१३	स प्रत्यामनेत्स्थानात्	६-४-३०
सति चोपासनस्य	१२-२-४	स प्रायात्कर्मधर्मः	३-४-४
सति सव्यवचनम्	४-१-३७	समं तु तत्र दर्शनम्	१-१-१२
सतोस्त्वाप्तवचनं	१०-२-६	समं स्यादश्रुतित्वात्	१०-३-५३
सत्त्वान्तरे च योग	१-१-६	समत्वाच्च	१०-१-१८
सत्त्वे लक्षणसंयोगा	७-१-४	समत्वाच्च तदुत्पत्तेः	१०-३-१२
सत्यवदिति चेत्	१२-१-२२	समत्वात्तु गुणाना	१०-३-४०
सत्रमहीनश्च द्वादशा	८-२-२४	समप्रदेशेविकार	६-२-३२
सत्रमेकः प्रकृति	१०-६-४५	समवाये चोदना	४-३-२६
सत्रलिङ्गं च दर्शयति	८-२-३२	समारूयानां त द्रवत्	३-७-१७,
सत्राणि सर्ववर्णा	६-६-१६		५-३-३१, १०-१-१२
सत्रेगृहपति	१२-४-३५	समानयनं तु मुख्यं	६-१-४०
सत्रे वोपायि चोदनात्	८-२-३१	समान वचनं तद्रवत्	११-२-५६
सत्सम्प्रयोगे पुरुष	१-१-४	समानः कालसाया	११-२-६०
स देवतार्थस्तत्संयो	३-२-१३	समानेपूर्ववत्त्वाद्दु	७-१-१३
स द्वयर्थः स्यादुभयोः	१०-१-३१	समाप्तं च काले वाक्यं	२-३-७
सनिवन्धे च भूति	१०-२-२६	समाप्तिरविशिष्टा	२-३-११
स नैमित्तिकः पशो	६-६-४२	समाप्तवचनात्	६-४-५३

समाप्तित्वच्च संप्रेक्षा	२-४-१६	सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ	१०-२-५१
समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्य	२-४-२३	सर्वाणि त्वेकार्थं	५-२-५
समासस्त्वेकाद	१०-६-६	सर्वातिदेशस्तु	६-२-३५
समासेऽपि तथेति	६-४-४	सर्वार्थं वाऽऽधानस्य	३-६-१५
समिध्यमानवती	५-३-४	सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो	६-८-१७
समुच्चयं च दर्श	१२-४-२	सर्वार्थमप्रकरणात्	३-६-१
समुच्चयस्त्वदोष	१२-३-१७	सर्वासञ्च गुणाना	१०-७-५८
समुच्चयो वा क्रिया	१२-३-३७	सर्वासां वा समत्वा	४-४-४
समुच्चयो वा प्रयोगे	१२-४-६	सर्वे तु वेदसंयोगात्	३-५-२६
समुपहृत्य भक्षणाच्च	८-२-३	सर्वेभ्यो वा कारणा	३-४-४४
समेषु कर्मयुक्तं	२-२-१७	सर्वे वा तदर्थत्वात्	१२-४-३७
समेषु वाक्यभेदः	२-१-४७	सर्वे वा सर्वसंयोगात्	३-५-२४
सम्बन्धात्सवनोत्कर्षः	५-१-३४	सर्वेषां चाभिप्रथनं	११-४-४२
सम्बन्धदर्शनात्	६-७-३४	सर्वेषां चैककर्म्यं	२-४-११
सर्वं वा पुरुषापनया	१०-३-७३	सर्वेषां चोपदिष्टत्वात्	३-२-२३
सर्वत्र च प्रयोगात्	१-३-१४	सर्वेषां तु विधित्वात्	३-५-३०
सर्वत्र तु ग्रहा	१०-४-३	सर्वेषां भावोऽर्थं	२-१-२
सर्वत्र यौगपद्यात्	१-१-१६	सर्वेषां वाऽविशेषात्	३-८-४०
सर्वत्वं च तेषाम	१०-२-१८	सर्वेषां वा चोदना	५-३-४४
सर्वत्वमाधिकारिकम्	१-२-१६	सर्वेषां वा दर्शना	८-४-३
सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्ते	१०-६-१३	सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात्	६-६-२५
सर्वप्रतिषेधो वा	६-४-२०	सर्वेषां वा लक्षण	३-१-१४
सर्वप्रदानं हविष	३-४-३७	सर्वेषां वा शेषत्व	३-७-२
सर्वप्रापिणापि लिङ्गेन	११-१-५२	सर्वेषां वैकजातीयं	५-२-२
सर्वमिति चेत्	५-१-६	सर्वेषां वैकमन्थ्य	३-२-४३
सर्वमेवं प्रधान	१०-३-६	सर्वेषामविशेषात्	१०-४-१६
सर्वविकारे त्वम्यासा	१०-२-११	सर्वेषामिति चेत्	२-१-४४
सर्वविकारो वा ऋत्वर्थ	१०-३-६६	सर्वेषु वाऽभावादेक	३-२-४२
सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः	६-३-१	सर्वेषां समवायात्	६-३-५
सर्वस्य चैककर्म	५-४-१२	स लौकिकः स्याद्	७-४-२
सर्वस्य वैककर्म्यात्	१०-४-५३,	स लौकिकानां स्यात्	८-४-२
	१०-६-६३	सवनीये छिद्रापिधानार्थं	१०-१२-८
सर्वस्य वैकशब्दात्	७-१-१८	स सर्वेषामविशेष	६-७-४
सर्वस्य वोक्तकाम	२-२-२६	स स्तुतशस्त्रो	१०-५-५०

स स्वर्गः स्यात्	४-३-१५	सार्वरूप्याच्च	४-४-१०
स स्वामी स्यात्	६-३-२३	सा लिङ्गादात्त्विजे	३-४-३१
सहृत्वे नित्यानुवाद	११-४-१५	सिञ्चिते त्वग्नि	५-३-२६
सहस्रसंबत्सरं तदायु	६-७-३१	मुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मा	११-४-२६
साकम्प्रस्थाप्ये	३-५-१३	सुब्रह्माण्या तु तन्त्रं	११-३-२०
साकल्यविधानात्	११-१-४८	सूक्तवाके च काल	३-२-११
साकाक्षं त्वेकवाक्यं	३-१-२०	सोमयानात्तु प्रापणं	६-८-१८
साग्नीनां वेष्टिपूर्वं	६-६-३०	सोमश्चैकेषामग्न्या	५-४-६
साङ्गकालश्रुति	११-४-१६	सोमान्ते च	११-३-६
साङ्गो वा प्रयोग	११-२-३०	सोमेऽवचनाद् भक्षो	३-५-१६
सादनं चापि शेषत्वात्	१०-५-७३	सौत्रामण्यां च ग्रहेषु	३-५-१४
साधारणो वाऽनु	११-३-८	सौधन्वनास्तु हीन	६-१-५०
साधारण्यान्न ध्रुवायां	३-५-६	सौभरे पुरुषश्रुते	२-२-२८
सान्तपनीया	५-१-३०	सौमिके च कृतार्थ	४-२-२०
सान्नाय्यं वा	८-२-१३	स्तुतशस्त्रयोस्तु	२-१-१३
सान्नाय्यसंयोगात्	६-५-२१	स्तुतिव्यपदेशमङ्गे	१०-६-४३
सान्नाय्याग्निषो	५-४-२५	स्तुतिस्तु शब्द	१-२-२७
सान्नाय्येऽपि तथेति	६-५-७	स्तोत्रकारिणां वा	३-५-२५
सान्नाय्येऽप्येवं	१२-४-४५	स्तोभस्यैके द्रव्यान्त	६-२-३४
सा पशूनामुत्प	१०-३-४५	स्तोमविवृद्धौ बहिष्प	५-३-७
साप्तदश्यवन्नि	१०-८-३३	स्तोमवृद्धौ त्वधिकं	१०-४-१८
सा प्रकृतिः स्यादधि	६-७-३६	स्तोमवृद्धौ प्राकृता	१०-५-१५
सामस्वथन्तिर	१०-४-१४	स्तोमस्य वा	१०-६-२३
सामानि मन्त्रमेके	६-२-१	स्थपतिनिषादः	६-१-५१
सामान्यं तच्चिकीर्षा	६-३-२७	स्थपतिवल्लौकिके	६-८-१२
सामिधेनीस्तदन्ता	३-७-१५	स्थपतीष्टिः प्रजावद	६-८-२०
साम्ना चोत्पत्ति	१०-५-२३	स्थानाच्च पूर्वस्य	३-६-१६
साम्नोऽग्निधानशब्देन	७-२-१	स्थानाच्छोत्पत्ति	५-१-१३
साम्नोः कर्मवृद्धयं क	६-६-११	स्थानात्तु पूर्वस्य	३-६-२५
साम्मुत्थाने विश्व	६-५-२५	स्थानाद्वा परिलुप्ये	१२-४-२६
सारस्वते च दर्शनात्	६-६-२८	स्थाणौ तु देशमात्र	१०-१-१०
सारस्वते विप्रतिषेधाः	२-४-२७	स्मृतिरिति चेत्	७-१-१०
सारूप्यात्	१-४-२५	स्मृतेर्वा स्याद्	१२-४-४३
सार्वकाम्यमङ्गकामैः	४-३-२५	स्याज्जुहूप्रतिषेध	४-१-४५

स्यात्तद्धर्मत्वात्	१०-५-२६	स्युर्वा होतृकामाः	१०-२-५३
स्यत्स्य मुख्यत्वात्	४-१-३६	सुगभिघारणाभावस्य	८-१-६
स्यात्पौर्णेमारीवत्	१२-१-३५	सौवेण वाऽगुण	१०-७-४४
स्यात्प्रकृतिलिङ्गा	३-८-४४	स्वकाले स्याद	५-४-१५
स्यात्प्रयोगनिर्देशा	११-३-२३	स्वदाने सर्वमविक्षे	६-७-१
स्यात्श्रुति लक्षणे	६-३-३३	स्वप्ननदीतरणा	११-४-५१
स्यादनित्यत्वात्	३-३-३०	स्वयोनौ वा	१०-४-४३
स्यादर्थचोदितानां	१०-५-२१	स्वरसामैककपा	७-३-२६
स्यादर्थान्तरेष्व	७-२-२०	स्वरस्तूत्पत्तिषु	७-२-६
स्यादिज्यागामी	६-४-२१	स्वरस्येति चेत्	७-२-७
स्याद्गुणर्थत्वात्	१०-४-४०	स्वरुद्राप्येकदेश	४-४-२५
स्याद्योगाख्या हि	१-३-२१	स्वरुस्तन्नापवर्गः	११-३-७
स्याल्लिङ्गभावात्	८-१-३०	स्वरुस्त्वनेकनि	४-२-१
स्याद्वा आवाहनस्य	१०-४-५१	स्वर्दृशं प्रति वीक्षणं	१०-६-३
स्याद्वाऽनारभ्य	६-१-३२	स्ववत्तमपि दर्श	६-१-१६
स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात्	३-५-२०	स्ववत्तोस्तु वचना	६-१-१७
स्याद्वाऽस्यसंयोगवत्	३-४-२४	स्वस्थानत्वाच्च	१२-३-५
स्याद्वा कारणभावाद	३-५-३४	स्वस्थानविवृद्धि	१०-५-८४
स्याद्वा कालस्य	१२-२-२०	स्वस्थानात्तु विवृद्धि	५-३-३
स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां	४-१-२०	स्वाध्यायवद्वचनात्	१२-३-७
स्याद्वा द्रव्याभिधानात्	१०-४-५३	स्वाभिश्च वचनं	६-४-६
स्याद्वा निर्घानदर्शनात्	१०-२-१४	स्वाभिकर्मपरिचयः	३-८-१
स्याद्वा प्रत्यक्ष	१०-२-२	स्वामित्वादितरेषा	६-६-२३
स्याद्वा प्रसंगिकस्य	१०-२-३५	स्वामिनि च दर्शना	१०-२-३१
स्याद्वा प्राप्तनिमित्त	६-४-१२, ६-५-५०	स्वामिनो वा तदर्थत्वात्	३-८-२६
स्याद्वा यज्ञार्थं	६-६-४	स्वामिनो वैकशब्दद्यादु	६-३-३६
स्याद्वा विधिस्तदर्धेन	५-४-१३	स्वामिसप्तदशाः कर्म	३-७-३८
स्याद्वा होत्र	१०-७-१६	स्वाम्याख्याः स्युर्गृह	१०-६-५५
स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा	५-३-३६	स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था	६-२-५०
स्याद्विशये तन्न्याय	१०-६-५४	स्वार्थे वा स्यात्	७-२-३
स्याद्बोभयोः प्रत्यक्ष	१०-२-५६	स्वार्थेन च प्रयुक्त्वा	६-६-३१
स्याद् व्यपदेशात्	१२-१-२७	स्विष्टकृत् श्रवणात्	१२-३-६
स्युर्वाऽर्थवादत्वात्	१०-२-५१	स्विष्टकृति भक्षण	१०-७-३५
		स्विष्टकृदावपि	१०-४-३६

स्विष्टकृद्देवतान्य	१०-४-३२	हिरण्यगर्भः पूर्वस्य	१०-३-१३
स्वे च	६-२-२६	हिरण्यमाज्य घर्म	८-१-३५
स्वेन त्वर्थेन	४-१-८	हेतुत्वाच्च	४-१-३५
		हेतुदर्शनाच्च	१-३-४
हरणे जुहोतिर्यो	४-२-१०	हेतुमात्रमदन्तत्वम्	३-३-४४
हरणे वा श्रुत्यसंयोगा	१०-६-८०	हेतुर्वा स्यादर्थं	१-२-२६
हविर्गणे परमुत्तरस्य	८-३-१	होता वा मन्त्रवर्णात्	३-५-३७
हविर्घनि निर्वापणार्थं	१२-१-१४	हेतुस्तथेति चेत्	१२-१-४०
हविर्भेदात् कर्मणो	१०-७-३	होमाऽमषवाभ्यां	३-५-३२
हविषा वा नियम्येत	८-२-५	होमात्	३-५-४६
हविषो वा गुणभूत	१०-८-३४	होमाभिषवमक्षणं	६-४-२४
हविष्कृत्सवनीयेषु	१२-२-१४	होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्	३-४-२६
हविष्कृदघ्नगुपुरोः	११-४-१५	होत्रास्तु विकल्पे	१२-३-३६
हारियोजने वा	३-५-२८	होत्रे परार्थत्वात्	१२-४-४०